RNI No. 7127/60

डाक पंजीयन संख्या - Jaipur City / 411 2020-22

संघशक्ति

मासिक समाचार पत्रिका

वर्ष : 57 अंक : 09 प्रकाशन तिथि : 25 अगस्त कुल पृष्ठ : 36 प्रेषण तिथि : 4 सितम्बर, 2020

शुल्क एक प्रति : 15/- वार्षिक : 150/- रुपये पंचवर्षीय 700/- रुपये दस वर्षीय 1300/- रुपये

फूलों में तुम हो मुस्काती, ज्योति में तुम जगमगाती

ये इशारे आने के हैं, पर विश्वास भरो, हे माँ !

तुम आओगी माँ! तुम आओगी माँ! चाहे देर अवेर करो।

हितकारी मेडिकोज

राजकीय चिकित्सालय के सामने, बाड़मेर-344001 राजस्थान
फोन : 02982226666

प्रो. पृथ्वी सिंह राठौड़
आजाद सिंह राठौड़
सिद्धार्थ सिंह राठौड़

-: सम्बंधित फर्म :-

हितकारी & स्वराज इंटरप्राइजेज प्राइवेट लिमिटेड
हितकारी प्रोजेक्ट्स प्राइवेट लिमिटेड

संघशक्ति

4 सितम्बर, 2020

वर्ष : 56 अंक : 09

-: सम्पादक :-

लक्ष्मणसिंह बेण्यांकाबास

शुल्क - एक प्रति : 15/- रुपये, वार्षिक : 150/- रुपये, पंचवर्षीय : 700/- रुपये, दस वर्षीय : 1300/- रुपये

विषय - सूची

☞ समाचार संक्षेप	✍	04
☞ चलता रहे मेरा संघ	✍ श्री भगवानसिंह रोलसाहबसर	05
☞ पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)	✍ श्री चैनसिंह बैठवास	07
☞ मेरी साधना	✍ प्रो. रूपसिंह लिम्बड़ी	09
☞ जीवन निर्माण (संस्कार निर्माण) की बातें	✍ स्व. श्री सूरतसिंह कालवा	14
☞ राव रायमल शेखावत	✍ स्व. श्री सुरजनसिंह झाझड़	18
☞ इच्छा की शक्ति	✍ आचार्य श्री महाप्रज्ञ	21
☞ विचार-सरिता (सप्तपञ्जाशत् लहरी)	✍ श्री विचारक	23
☞ अन्त:करण	✍ संकलित	25
☞ परदे से परित्राण	✍ सविता कोटवाद	27
☞ शहादत का बादशाह ठा. केशरसिंह बैंस	✍ श्री गोपालसिंह राठौड़	29
☞ चित्रकथा-'लोकदेवता बाबा रामदेव जी'	✍ श्री ब्रजराजसिंह खरेड़ा	32
☞ अपनी बात	✍	34

समाचार संक्षेप

पू. नारायणसिंह जी की जयन्ती :

श्री क्षत्रिय युवक संघ के तृतीय संघप्रमुख पू. नारायणसिंहजी रेड़ा का 81वाँ जन्मदिवस 30 जुलाई को शाम 6 बजे से 7 बजे तक वर्चुअल कार्यक्रम के रूप में मनाया गया। इस कार्यक्रम में अपने-अपने स्थान पर रहते हुए हजारों परिवार सम्मिलित हुए। कुछ स्थानों पर भौतिक रूप से जयन्ती कार्यक्रम भी सम्पन्न हुए।

माननीय संघप्रमुख श्री भगवानसिंहजी ने अपने उद्बोधन में उनके जीवन सम्बन्धी जो बातें कही, उससे कुछ सूत्र उभरे। उन्होंने कहा कि प्रारम्भ में हम जब संघ में आते हैं तो हमें नियमित और निरंतर रूप से शाखा में आने को कहा जाता है तथा नियमितता और निरन्तरता का महत्त्व समझाया जाता है। नियमितता और निरन्तरता में किसी प्रकार का अवरोध न आने देना एक छोटी-सी साधना नजर आती है, लेकिन यही उपासना बन जाती है। पू. नारायणसिंहजी ने इस सूत्र को जीवन में अपनाया।

जो हमारा मार्गद्रष्टा कहे, वही करना और उसे पूर्ण लगन व तत्परता से करना, यह असाधारणता की सीढी बन जाता है। पू. तनसिंहजी ने जो कहा, वही उन्होंने किया और पूर्ण निष्ठा के साथ इस सूत्र को अपनाया। वे मार्गदर्शन के लिये अन्यत्र कहीं नहीं गए, पू. तनसिंहजी द्वारा दिए गये गीता ज्ञान के अलावा कोई शास्त्र नहीं ढूंढा। अनन्यता उनके जीवन में समाहित रही।

उन्होंने संघ को अपने जीवन में उतार कर उसी के अनुकूल पूरे जीवन का तारतम्य बनाया। कोई अनर्गल बात नहीं, पूरा जीवन एक सूत्र बद्धता में बिताया। जो पू. तनसिंहजी ने दिया, उसी पर निर्भर रहे। कोई अनाधिकार चेष्टा नहीं। यह सूत्र जीवन में श्रेष्ठता लाता है। श्रेष्ठता से ही उपासना फलित होती है और तभी सुख-शान्ति आती है। जिसके जीवन में सुख-शान्ति हो वही अन्यों को सुख-शान्ति दे सकता है।

पू. नारायणसिंहजी के जीवन में योग उतरा। योग प्राप्ति के लिये लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की तपस्या करते हैं। जब उनसे पूछा गया कि आपने क्या किया जिसका परिणाम योग का उतरना है। उन्होंने कहा,-मैंने तो पू. तनसिंहजी के बताए संघ कार्य को किया, अन्य कुछ नहीं। आप भी अपनी सामर्थ्य अनुसार संघ कार्य को करें तो पू. तनसिंहजी अवश्य आपकी मदद करेंगे। इन सूत्रों को अपनाने से उनका तो जीवन सार्थक हुआ ही, हमारे लिये भी प्रेरणा का मार्ग खुला है।

पू. नारायणसिंहजी का जीवन परिचय प्रारम्भ में संचालन प्रमुख लक्ष्मणसिंह बेण्यांकाबास ने प्रस्तुत किया। मरुस्थल के एक साधारण से गाँव रेड़ा में, एक साधारण परिवर में उनका जन्म हुआ। साधारण शिक्षा और दसवीं कक्षा के बाद अध्यापक की नौकरी लगी। लेकिन उनके जीवन में असाधारणता अंकुरित हो रही थी। संघ के सान्निध्य से दूर रहना सुहाता नहीं था अत: संघ चिंतन ही चलता रहता था। मात्र 19 वर्ष की आयु में उन्होंने एक असाधारण निर्णय ले लिया। पिता के सबसे बड़े पुत्र, विवाहित, नौकरी लगी हुई, लेकिन छोड़कर पू. तनसिंहजी के सान्निध्य में ही सदैव रहने का निर्णय लेना और जीवन भर इस पर अडिग रहना। एक-एक वर्ष तक घर नहीं जाना, अपने छोटे भाइयों के विवाह तक में भी नहीं पहुँचना, क्योंकि उस समय संघ का कोई दिया हुआ कार्य सम्पादित करना था। संघ कार्य के लिये महीनों तक लगातार प्रवास पर रहना। सहगीतों और खेलों का वर्गीकरण विषयानुकूल करना। शिविरों में 18 घण्टों तक व्यस्त कार्यक्रमों में रोचकता और आकर्षण बनाने में सदैव प्रयत्नशील रहे ताकि शिविरार्थियों को थकान महसूस न हो। उस असाधारण व्यक्तित्व ने आने वाली पीढ़ी के लिये संघ कार्य को सहज बनाने के साथ-साथ अपने जीवन से कर्मनिष्ठा की प्रेरणा भी दी।

(शेष पृष्ठ 6 पर)

चलता रहे मेरा संघ

{उच्च प्रशिक्षण शिविर गनोड़ा (बांसवाड़ा) में 28 मई, 2019 को संघप्रमुख श्री भगवानसिंहजी द्वारा शिविरार्थियों हेतु उद्‌बोधित प्रभात संदेश}

भगवान व्यासजी द्वारा लिखित महाभारत काव्य में आया है कि पाण्डवों को लाक्षाग्रह में जलाने का प्रयास किया गया, परन्तु वे वहाँ से बचकर निकल गए। तब माता कुन्ती सहित पांचों भाई जंगल में भटक रहे थे। माता कुन्ती को प्यास लगी और उसने अपने पुत्रों को पानी लाने के लिये आदेश दिया। भीम पानी की तलाश में निकला। थोड़ी दूर पर एक तालाब मिला। जब वह पानी लेने लगा तो वहाँ एक यक्ष का निवास था, उसने भीम को अपने प्रश्नों का उत्तर देने को कहा। भीम ने परवाह नहीं की तो यक्ष ने उसे बेहोश कर दिया। देर तक भीम नहीं आया तो दूसरा भाई निकला और उसके साथ भी वैसा ही हुआ। ऐसे चारों भाई वापस नहीं लौटे तो युधिष्ठिर गया। उसे भी यक्ष ने सावधान किया कि पानी तुम नहीं ले सकते, पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो। अनेकों प्रश्न यक्ष ने पूछे और युधिष्ठिर ने उनका उत्तर दिया। एक प्रश्न था-सत्य क्या है? तो उत्तर दिया-मृत्यु। अन्य कुछ निश्चित है या नहीं, मगर मृत्यु निश्चित है। जो जन्मा है, वह मरेगा। जो संसार में आया है वह जाएगा।

इस सत्य को हम सब जानते हैं कि मृत्यु एक दिन आएगी लेकिन इस सत्य को जानते हुए भी इस सत्य को नकारते हुए हम अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस जीवन को हम सोचते हैं कि हम जीवन जी रहे हैं। इस मृत्यु की सत्यता के अनुसार हमारा जन्म होता है और दूसरी तरफ हम मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जिस दिन हमारा जन्म हुआ उस दिन से ही हम मृत्यु के मुँह में जाना प्रारम्भ कर देते हैं। एक दिन बीता, दो दिन बीते, एक वर्ष बीता और इस तरह काल हमको खा रहा है, मृत्यु हमको खा रही है। परन्तु इसका आभास हम करते नहीं हैं। जीवन में अच्छे कार्य भी करते हैं, बुरे कार्य भी करते हैं, राग और द्वेष में उलझते हैं, मोह-माया में रमे रहते हैं बिना यह सोचे कि एक दिन हमको तो जाना है। जिस दिन हमारा जन्म हुआ उसी दिन से हम एक-एक दिन, एक-एक पल, एक-एक क्षण उस अन्तिम सत्य की ओर बढ रहे हैं। हम याद तो यह रखते हैं कि हम जी रहे हैं। हम जन्मदिन मनाते हैं, खुशियाँ मनाते हैं। जन्मदिन पर खुशी इस बात की कि हम एक साल जीये हैं। उसके दूसरे पक्ष को नहीं देखते कि मेरी आयु एक वर्ष कम हो गई है। तो जो घट रहा है, उसकी खुशी काहे की? प्रतिवर्ष ऐसी खुशियाँ मना रहे हैं, उत्सव मना रहे हैं। वास्तव में मर रहे हैं और जीने का नाम ले रहे हैं।

हम क्षत्रिय युवक संघ के शिविर में ग्यारह दिन पूर्व आए। एक अनुष्ठान, एक यज्ञ प्रारम्भ हुआ। वह अनुष्ठान अब पूरा हो रहा है। थोड़ी देर बाद इस अनुष्ठान में हम पूर्णाहुति देंगे। यह अनुष्ठान पूरा हो जाएगा, यह बसेरा हम छोड़ जाएँगे। पंछी कुछ देर डाली पर विश्राम कर उड़ जाते हैं अपनी मंजिल की ओर उसी तरह हम भी थोड़ी देर बाद यहाँ से उड़ चलेंगे, चले जाएँगे। यह सत्य है। विदाई का कार्यक्रम होने में अब थोड़ी ही देर है, इसलिए कह रहा हूँ कि हम विदाई के समीप जा रहे हैं और उसकी हम तैयारी भी कर रहे हैं। ऐसी ही तैयारी हम हमारे जीवन में भी रखें। क्योंकि अन्तिम दिन आने वाला है, इसलिए जो ग्रहण करना है वह कर लें, जो छोड़ना है वह छोड़ दें। ईशोपनिषद् का प्रथम मंत्र है -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजिथा: मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।।

मंत्र कहता है कि जो कुछ भी इस संसार में है, वह सभी ईश्वर द्वारा आच्छादित है। ईश्वर ने दिया है। भूल यह होती है कि वह सब ईश्वर का है और हम हमारा मान लेते हैं। हमारा सोच रहता है, हमने उपार्जित किया है, हमने सृजन किया है। हम ऐसा मान लेते हैं जबकि यह सब ईश्वर का सृजन है। जो हम संग्रह करते हैं वह सब ईश्वर की दी हुई वस्तुओं का संग्रह करते हैं। उपनिषद कहता है कि **ईशावास्य मिदं सर्वं** ईशा का वास है, जो

कुछ भी है। **यत्किंच जगत्यां जगत** इस जगत में जो बीत रहा है, वह जगत। भगवान ने कहा है कि क्योंकि वह तुम्हारा नहीं है अतः तेन व्यक्तेन भुंजिथा उस सबका त्याग करते हुए ही कि मेरा नहीं है, तू उपयोग में ले। यह ज्ञान भी मेरा नहीं है, यह धन भी मेरा नहीं है। माता-पिता, भाई-बन्धु, पत्नी, यह सब भी भगवान ने थोड़े समय के लिये हमारी सहायता करने के लिये, इस भवसागर को पार करने की यात्रा को सुविधापूर्वक बनाने के लिये दिए हैं। लेकिन जो इस प्रकार अपना लेता है कि यह मेरा है, यह मैंने किया है, तो उसका जीवन दुखी हो जाता है। जितना अपनाया, उतना ही वह इस यात्रा में अधिक भार लेकर चल रहा है। यह यात्रा तभी सरल व सुलभ होगी जब यात्रा में हमारे पास सामान कम से कम हो। परन्तु हम अधिक से अधिक संग्रह करते हैं। वह पाप ही है जो इकट्ठा कर रहे हैं, यात्रा को बोझिल बना रहे हैं। उपनिषद् कहता है-**तेन त्यक्तेन भुंजिथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** यह मेरा नहीं है, इसलिए इसका त्याग करते हुए, इसका उपयोग करें। मैं उतना ही मेरे लिये, मेरे परिवार के लिये काम में लूं जितना आवश्यक है। पर हम जीवन भर संग्रह करते हैं, संचय करते हैं और साथ में जाता कुछ भी नहीं है। मैं ईश्वर के यहाँ कुछ भी नहीं ले जाता। केवल मैं और मेरे के बीच में जीवन का बोझ उठाए घूमता फिरता हूँ। वह बोझ भी यहीं रह जाता है। केवल कर्मों का फल ही साथ जाता है। वह भार के रूप में क्यों जाए? जो दिया है इस संसार में, वह ईश्वर का है, वह हमारे सदुपयोग के लिये है जितना आवश्यक है।

हमको यहाँ बताया गया क्षत्रिय युवक संघ में कि जो सुविधाएँ हैं, वे परमेश्वर की दी हुई हैं। हमारा कौशल है, वह परमेश्वर का दिया हुआ है। हमारी प्रतिभा है वह भगवान की दी हुई है। अगर हम मानते हैं कि हमारी है तो वह भार बन जाती है। तब यात्रा में कठिनाई हो जाती है। तो वह सब **तेन त्यक्तेन भुंजिथाः** - उस सबको त्याग दो, जितना आवश्यक हो उतना ही लो-तो सब कुछ मिल जाएगा। **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** गिद्ध दृष्टि मत रखो। गिद्ध बहुत ऊँचाई पर उड़ता है पर नजर कण-कण पर रहती है। कंकाल में रहती है। यह जो हम संग्रह करते हैं वह कंकाल ही है, हर समय उसी में नजर रखते हैं। यह जो नहीं रहने वाला है, उसी का संग्रह करते हैं। जितना आवश्यक हो, उतना ही लें, फिर मिल जाएगा। **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**। यह धन भी किसका है, जिसने धन को बनाया है। न मेरा है न तेरा, न बाप का है, न माँ का, न माली का है। यह केवल परमेश्वर का है। इसलिए गिद्ध दृष्टि रखने से कोई लाभ होने वाला नहीं है, नुकसान ही होने वाला है। यह धन किसका है? इस पर विचार करें कि यह किसका है? पहले ही सूत्र में बता दिया गया कि यह सब भगवान का है। तुम्हारे लिये भी भगवान है, इन वस्तुओं में भी भगवान है। जो सब देता है वह भगवान है। ज्यों ही हमने उसको अपना माना, वहीं से कष्ट प्रारम्भ हो जाता है। सुख पाने की इच्छा रखते हैं पर जो सारा इन्तजाम है, प्रयत्न है, वह सारा दुख पाने का कर लेते हैं। यह आज इस शिविर का अन्तिम मंगल प्रभात संदेश है।

पृष्ठ 4 का शेष

समाचार संक्षेप

दुर्गादासजी की जयन्ती :

श्रावण शुक्ला चतुर्दशी, 2 अगस्त, को आदर्श क्षत्रिय दुर्गादासजी की जयन्ती का आयोजन संघ क्षेत्र में अनेक जगह सम्पन्न हुआ। जोधपुर में संघप्रमुखश्री के सान्निध्य में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। कुछ जगह वर्चुअल कार्यक्रम भी हुए। सभी कार्यक्रमों में दुर्गादासजी के त्यागमय और समर्पणमय जीवन की जानकारी दी गई, जिसमें क्षत्रियत्व समाहित है। उनके प्रेरणादायी जीवन का अनुकरण हम भी करें, तभी जयंती मनाना सार्थक होगा।

रक्षाबंधन- अनेक शाखाओं में रक्षाबंधन कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। संघप्रमुखश्री प्रातः जोधपुर में और दिन में बाड़मेर में आयोजित कार्यक्रम में सम्मिलित हुए। हमारे दायित्वबोध को पहचाने, कर्मरत हों और उसकी रक्षा का बन्धन हमारे लिये रक्षाबन्धन पर्व का संदेश है।

गतांक से आगे

पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)

''जो कुछ देखा, समझा व अनुभव किया''

– चैनसिंह बैठवास

विवाह एक पवित्र बन्धन है जो पूरे परिवार को खुशियों से भर देता है। जिस घर में लड़का या लड़की विवाह योग्य हो गये या होने वाले हैं, तो इस मौके की खुशी का इन्तजार पूरे परिवार को रहता है। पूज्य श्री तनसिंहजी जब शादी की उम्र के हो गये, तो माँ सा को भी इस खुशी का इन्तजार था।

माँ सा ने बताया– ''एक दिन वह (तणेराज) बोला, हैदराबाद में राजपूत सभा की मीटिंग है, मैं भी वहाँ जा रहा हूँ। वह वहाँ गया। वहाँ क्या हुआ? उसने क्या किया? मुझे मालूम नहीं, पर मीटिंग के थोड़े ही समय बाद छोळ (पाकिस्तान) से समाचार आया कि श्री राणसिंहजी सोढा अपनी कन्या का सम्बन्ध मेरे पुत्र के साथ करना चाहते हैं। राणसिंहजी के परिवार के सुसंस्कारों से व उनकी प्रतिष्ठा से मैं पहले से ही परिचित थी। अत: मैंने यह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया।''

माँ सा को जिस खुशी का इन्तजार था, वह इन्तजार खत्म हुआ। पूज्य श्री की शादी हो गयी। घर में मांगलिक गीत गाये जाने लगे, चारों ओर प्रसन्नता व खुशियों ही खुशियों की बहार नजर आने लगी। सर्वत्र खुशी बरसने लगी। जब पूज्य श्री तनसिंहजी ने शादी करके दुल्हन के साथ गृह प्रवेश किया तो माँ सा ने बताया –

''26 जून, 1947 को खेतसिंह का कड़िया (छोळ) जिला थारपारकर (पाकिस्तान) के ठाकुर राणसिंह सोढा गंगदासोत की पुत्री बाई राजकुंवर नख-शिख सज-धजकर दुल्हन के रूप में मेरी पुत्र वधू बनकर मेरे घर आई तो मेरी खुशी का कोई ठिकाणा नहीं रहा। मेरी पुत्र वधू ने मेरे घर की शान व शोभा बनकर घर के उजाले के रूप में जब गृह प्रवेश किया तो मेरे आँगन को सुहाग मिला। उस वक्त मुझे जो अपार खुशी व प्रसन्नता मिली, उसका बखान नहीं किया जा सकता। लम्बे अर्से के बाद मुझे जो खुशी मिली, यह मेरी पहली खुशी व प्रसन्नता थी। मुझे सुख और शान्ति का अहसास हुआ।''

शादी एक पवित्र बन्धन है जिसमें वर-वधू एक दूसरे को वचन देकर इस पवित्र बन्धन में बन्ध जाते हैं। यह उनका बन्धन जीवन पर्यन्त बना रहता है। दोनों अपने-अपने दायित्व भली-भाँति समझते हैं और जीवन पर्यन्त निभाते हैं। अपनी शादी के सम्बन्ध में पूज्य श्री तनसिंहजी ने बताया –

''जब मैं 24 वर्ष का हुआ, उस समय मैंने किसी का पाणिग्रहण किया था। अग्नि को साक्षी देकर मैंने कुछ प्रतिज्ञाएँ की थी। यद्यपि मैं उन प्रतिज्ञाओं का अर्थ भी उस समय नहीं जानता था, शायद वह पुरोहित भी नहीं जानता था, चुनाव भी मैंने नहीं किया था। पाणिग्रहण क्या किया, पाणि के साथ बांध दिया गया था। यद्यपि उसके लिये कोई दूसरा विकल्प भी मेरे पास नहीं था, किन्तु होता तो वह कोई अस्वाभाविक नहीं होता। इसलिए वैधानिक दृष्टिकोण से मैं यह कहूँ कि मेरा उस हाथ के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं, जो उस दिन मेंहदी से रंगा हुआ था, तो ऐसा कहने से रोकने वाला भी कोई नहीं। परन्तु सभी विधानों से परे हमारा एक निजी विधान होता है। यह निजी विधान ही नैतिकता का विधान है। मैं नैतिक रूप से उस पाणिग्रहण की प्रतिज्ञा से बद्ध हूँ इसीलिए आज उस प्रतिज्ञा से मुकरना चाहूं, तो भी मुकर नहीं सकता। पलायनवादी विरक्त होकर सन्यास लेते हैं और धोखेबाज बचने के लिये तलाक का आश्रय लेते हैं परन्तु मैं ऐसा कुछ भी नहीं कर सकता, इसलिए इस प्याले में चाहे अमृत हो अथवा विष, मुझे गटागट कर पीना ही पड़ेगा। इस उत्तरदायित्व से बचनेका साहस यदि पुरुषार्थ कहलाता है, तो मैं निम्नतम श्रेणी का पुरुष हूँ।''

शादी एक आकर्षण है जो दो दिलों को जोड़ता है,

उनमें घनिष्ठता पैदा करता है, उन्हें आत्मीयता के धागे में बाँध कर रखता है, जोड़कर रखता है। और यह भाव पैदा करता है कि दोनों एक दूसरे के लिये बने हैं। इन दोनों में न कोई छोटा है, न कोई बड़ा, दोनों समान हैं, दोनों का स्तर समान है, दोनों एक-दूसरे के बिना अपूर्ण हैं, दोनों मिलकर ही पूर्ण बनते हैं, इसलिए दोनों एक दूसरे का सम्मान करें, एक दूसरे को इज्जत दें, मान दें। इस सम्बन्ध में पूज्य श्री तनसिंहजी ने अपनी अर्धांगिनी (पत्नी) को सम्बोधित कर कहा -

''पर जरा समीप आओ, मैं देखना चाहता हूँ कि तुम क्या हो? नि:संदेह तुम वह नहीं हो, जिससे कोई भागना चाहे। तुमने वह आकर्षण पैदा किया था, जिससे बचकर रहना असम्भव है। तुम वह केन्द्र हो, जहाँ मेरे भटकते मन के पंछी ने विश्राम लिया है। तुम्हारा समर्पण लाजवाब था। परन्तु मैंने तुम्हारे लिये क्या किया? अच्छा ओढ़ने-बिछाने के लिये ही तुम न पा सकी तो अच्छा पहनने खाने की तो बात ही क्या रही? मेरे घर की देहली पर चढ़कर तुमने लक्ष्मी की कृपा बरसाई। मेरे वीरान घर को तुमने आबाद किया। क्या तुम्हारी कोई कामना नहीं थी? क्या तुम्हारा कोई स्वप्न नहीं था? और यदि रहा था तो क्या उसे मैंने पूरा किया? नहीं किया। उर्मिला की भाँति तुमने मुझे हँसी खुशी से विदा किया। तुम्हारे त्याग और तपस्या को मैं जानता हूँ और मैं यह भी जानता हूँ कि भारतीय नारी का कोई जवाब नहीं। भारत का गौरव उन्हीं की त्याग तपस्याओं से निर्मित हुआ तथा भारत का दुर्भाग्य उन्हीं के बेबस आँसुओं के कारण हुआ। जिस राष्ट्र, देश अथवा समाज में नारी का सम्मान न हो उसकी पुनर्जागरण की कल्पना भी व्यर्थ है। जिस घर में नारी की आह और आँसू बहें हैं, उस घर का सुख किसी बाँध से बाँधा नहीं जा सकता। तुम अशिक्षित हो, किन्तु तुम्हारी शक्तियाँ अशिक्षित नहीं। तुम्हारी मंगल कामनाएँ कार्यक्षेत्र में भाग्य बनकर आती हैं। तुम्हारी शुभेच्छाओं के कारण मुझे संघातक पराजय का मुँह कभी नहीं देखना पड़ा। तुम मेरी गृहलक्ष्मी हो। तुम्हें सुखी रखने का मेरा पवित्रतम उत्तरदायित्व है। जो लोग अपने घर की लक्ष्मी की उपेक्षा कर गन्दी नालियों में बहने वाली सम्पत्ति पर ललचाते हैं- वे पशु के सिवाय और कुछ नहीं और जो दूसरे घरों की लक्ष्मी की लाज लूटने से नहीं कतराते उन्हें श्री, विजय और विभूति के कभी दर्शन नहीं होते। जो अपने घर में होने वाले हाहाकार को देखते रहेंगे, सुनते हुए भी त्यागी और समाजसेवी होने की बहक में अनसुनी करेंगे वे समाज सेवा तो दूर, किसी भी प्रकार की लक्ष्य सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते। यही सब सोचकर मैंने तुम्हें धन दौलत से परिपूर्ण नहीं किया है, किन्तु तुम्हारा सदैव आदर और सम्मान किया है। तुम्हें तुम्हारे हिस्से का उपयुक्त भाग मिला है और मैं जानता हूँ इसलिए चाहे मैं विदेश में जाऊँ अथवा जेल में, चाहे समीप रहूं अथवा दूर, तुम्हारी मंगल कामनायें और सद्‌भावनायें सदा मेरे साथ हैं, इसीलिये मैं जिधर जाता हूँ उधर ही मंगल कामनाओं और सद्‌भावनाओं, आदर और सफलताओं को अपनी ओर अनायास ही खिंची हुई आते देखता हूँ। इस सब के बदले में मुझे तुम्हें क्या देना चाहिए? यही कि तुमसे प्राप्त होने वाला समस्त प्रेम, सम्मान और शुभकामनायें तुम्हें अपनी बनाकर वापिस दूं। यही वह वस्तु है, जिसे प्राप्त कर तुम सभी अभावों को भूल जाओगी, जैसा कि अब तक करती आई हो।''

आर्य संस्कृति और हिन्दू धर्म में पति व पत्नी को समान दर्जा दिया है। इसी कारण हमारी संस्कृति व हमारा धर्म अन्यों से विशिष्ट है। गीता के तीसरे अध्याय में पैंतीसवें श्लोक में कहा है -

श्रेयान स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।।

(क्रमश:)

अपने कर्तव्य का जिसे ज्ञान नहीं, ऐसे साधु की परछाई से भी दूर रहो।

- अष्टावक्र

गतांक से आगे

मेरी साधना

लेखक – पू. आयुवानसिंहजी, गुजराती भाष्य–श्री बलवंतसिंह पांची, हिन्दी अनुवाद–प्रोफेसर रूपसिंह लिम्बड़ी

अवतरण–45

वह देखो! संसार के सम्पूर्ण ऐश्वर्य के अधिष्ठाता, समस्त भोगों के भोक्ता–कीर्ति की माला हाथ में लिए त्याग और वैराग्य–निश्चल चित्त से बैठे हैं। उस ओर स्वाभिमानी बलिदान विजय के गले में स्वतंत्रता की जयमाला पहना रहे हैं। एक ओर भगवान् संघर्ष, क्रोध और प्रतिशोध के साथ ताण्डव नृत्य का आयेजन करने में तल्लीन हैं। मध्य में पवित्रता अपने अबोध शिशु शान्ति और मोक्ष को न्याय के झूले में झुला रही है। उधर उत्साह अपनी जीवन संगिनी आशा के साथ गौरव के रंग से फाग खेल रहे हैं। ऊपर से प्रकाश केसर की वर्षा कर रहे हैं। प्रणाम करूँ मैं उन सबको। ध्वज! जरा फहराना बन्द करो तो।

मेरे साथियों! क्षत्रिय युवक संघ के सभी कार्यकर्त्ता भाइयो! इस अवतरण को बराबर पूर्ण गंभीरता से समझने की आवश्यकता है। यह पूरा अवतरण रूपक है। प्रत्येक शब्द अपने वाच्यार्थ से एक अन्य अर्थ देता है। हमें छिपे हुए उस लक्ष्यार्थ और उसकी व्यंजना तक पहुँचना है। तब जाकर हम इस अवतरण को समझ पाएंगे।

प्रथम वाक्य का पूर्वांश है–'संसार के संपूर्ण ऐश्वर्य के अधिष्ठाता'–ऐश्वर्य का मतलब केवल भौतिक सम्पन्नता ही नहीं है। ऐश्वर्य शब्द में सब कुछ आ जाता है, जिससे आपका सर्वतोमुखी प्रभाव प्रगट हो, जिससे आपकी बुद्धि प्रतिभा, आपकी विद्वता, आपकी प्रमाणिकता, आपकी विश्वसनीयता, आपके शारीरिक बल का प्रभाव, संक्षेप में कहें तो जिससे आपका स्वामीभाव प्रगट हो। इस ऐश्वर्य के क्षत्रिय अधिष्ठाता हैं। अधिष्ठाता का मतलब है यह सारा ऐश्वर्य उसके अधीन है। वही इसका सृजक, नियंत्रक और भोक्ता है। यह अधिकार प्राप्ति क्षत्रिय को मुफ्त में नहीं मिली है। इसके लिये पूरी जाति ने बहुत बड़ा त्याग किया है। क्षत्रिय को जो यश–कीर्ति मिली है उसके लिये उसने त्यागजन्य वैराग्य भाव से बलिदान दिया है। क्षत्रिय का प्रथम दर्शनीय गुण है उसकी स्वाभिमानीता, अपनी अस्मिता। दूसरा गुण है बलिदान। अन्यों के लिये अपना जीवन, अपने आपको मिटा देना। लोगों की रक्षा के लिये अपनी जान की कुर्बानी करना, यह केवल क्षत्रिय का ही अपना निजी गुण है।

भारतवर्ष का, हिन्दुस्तान का पूरा इतिहास क्षत्रियों के त्याग और बलिदान के गौरव से भरा पड़ा है। 'केसरी' रंग वीरों के बलिदान का प्रतीक है। यज्ञ के हवन कुण्ड में आहुति देने पर, उसमें से जो ज्वाला निकलती है वह केसरी रंग की होती है। हमारे पूर्वजों का 'केसरिया' और हमारी उन पवित्र माताओं का 'जौहर' उस यज्ञ की आहुतियाँ हैं जो आज हमें केसरिया ध्वज निरंतर स्मरण कराता है।

इतिहास बता रहा है कि महाभारत काल तक, अर्थात् द्वापर के समाप्त होने तक समग्र विश्व में क्षत्रियों का शासन था। सतयुग, त्रेता और द्वापर तीनों युगों में क्षत्रियों ने परमात्मा का प्रतिनिधित्व किया है। जब तक इस पृथ्वी पर हमने परमात्मा के प्रतिनिधि के रूप में शासन व्यवस्था का संचालन किया, पृथ्वी के सभी प्राणी, जड़–चेतन सब के कल्याण के लिये ही हम सदैव तत्पर रहे।

जब निजी स्वार्थ ने हमारे ऊपर अपना प्रभाव प्रस्थापित किया, तब हमारे अन्दर कुछ ऐसे दोष उत्पन्न होने लगे जिससे हममें आन्तरिक कलह, स्पर्धा, संघर्ष के बीज पड़ने लगे और इसका प्रथम फल हमें कुरुक्षेत्र में महाभारत के रूप में मिला। महाभारत के युद्ध से ही हमारी अधोगामी गति का प्रारम्भ हुआ और तत्पश्चात क्रमश: हमारा शासकीय प्रभाव क्षीण होता चला।

क्षत्रियों की शरणागत रक्षा और पराजित शत्रु के साथ भी सम्मानपूर्ण व्यवहार का आततायियों ने अनुचित लाभ लेकर भारत में इस्लामी और मुगल शासन स्थापित

करने में सफलता पाई। लेकिन इस काल में भी वीरता, धीरता, त्याग, बलिदान एवं कर्तव्य के प्रति समर्पण भावना जीवित थी। शाका और जौहर की बात जानकर पूरा विश्व अचंभित था। दुश्मन भी बोल उठता-'वाह क्षत्रिय! वाह क्षत्रिय'।

जहाँ पवित्रता हो, वहाँ शान्ति स्वाभाविक है और जहाँ शान्ति हो वहाँ मुक्ति दौड़ती आती है। उत्साह जनित आशा और आशा जनित उत्साह से ही ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। आशा को तो उत्साह की जीवन संगिनी कहा है। शरणागत वत्सलता, वचनपालन, विश्वसनीयता इन्हीं गुणों के कारण आशा हमारा स्वभाव बन गई थी। साधक इन सभी गुणों के दर्शन केसरिया ध्वज में करता है। तभी हम गाते हैं-'प्राणों से भी प्यारा है केसरिया रंग हमारा है।' परमेश्वर से प्रार्थना करें-केसरिया ध्वज में इतिहास दर्शन की दृष्टि प्रदान करें।

अवतरण-46

मैं एक चित्रपट देखने लग गया था। बड़ा भयंकर दृश्य था उसमें। भगवान राम रावण से तुमुल युद्ध कर रहे थे। थोड़ी देर से क्या देखता हूँ-भीष्म शर-शय्या पर लेटे हैं। इसके तुरन्त पश्चात ही न मालूम कितने दृश्य देख लिए-मुझे तो याद भी न रहे। हाँ समुद्रगुप्त की विजय यात्रा और चन्द्रगुप्त के शक-युद्ध बड़े मनोरंजक थे, पर बाद में चामुण्डराय की भीमकायता, हमीर का हठ, जौहर और शाकों को देखकर मेरी पलकें झुक गई। फर-फर की ध्वनि सुन सिर ऊँचा किया तो देखता हूँ-सामने और कुछ नहीं है, केवल केसरिया ध्वज फर-फर फहरा रहा था।

जब कोई संवेदनशील, चिंतनशील व्यक्ति अपने समय की परिस्थिति पर चिंतन करने लगता है, तो उसे सदैव अपने लक्ष्य का, अपने कर्तव्य का चिंतन स्वाभाविक रूप से होता रहता है। साधक अपने समाज की परिस्थिति से दुखी हैऔर वह उसके पुनरुत्थान के लिये प्रयत्नशील है। केसरिया ध्वज में इतिहास दर्शन करते हुए अपने पूर्वजों के गौरवपूर्ण इतिहास में साधक खो जाता है और चित्रपट की तरह त्रेता, द्वापर और इस युग की घटनाएँ उसके दृश्य-पटल पर गुजरने लगती हैं। राम-रावण का घनघोर युद्ध, महाभारत के युद्ध में भीष्म-पितामह का शर-शय्या पर लेटना और फिर इस युग में चामुण्डराय, हठी हमीर, जौहर-शाके और न जाने कितने अद्भुत, गौरवपूर्ण दृश्य चित्रपट पर आते रहे। साधक इतिहास के उन गौरवमय प्रसंगों एवं हमारे पूर्वजों के बेजोड़ बलिदानों के दृश्यों को देखते-देखते भाव विभोर हो जाता है, उसकी पलकें नमन भावावेश में झुक जाती हैं। ठीक उस समय उसके कानों में फर-फर-फर-फर की ध्वनि सुनाई देती है, उसका ध्यान भंग होता है और सामने केसरिया ध्वज को फहराते देखकर अनुभव करता है कि इस गौरवपूर्ण इतिहास का साक्षी बनकर यह केसरिया फहरा रहा है और हमें बहुत कुछ कह रहा है।

हमारे पूर्व पुरुषों के पराक्रम, शौर्य एवं समर्पण, उनके परोपकारी कार्यों की स्मृति, उनकी क्षमाशीलता, उनकी दानशीलता, उनकी प्रतिभा, उनके प्रभाव का इतिहास हमारे दृष्टि समक्ष प्रकट होता है। परन्तु हमारे मन में प्रश्न उठता है कि क्या आज हम फर-फर फहराते हुए केसरिया ध्वज की मूक भाषा सुनने की, समझने की क्षमता रखते हैं? साधक को तो अपने पूर्वजों का वह इतिहास दिखा भी देता है, वह सुनता भी है और उसकी मूक भाषा को समझता भी है। हम सबको उस इतिहास सुनने और समझने के लिये, जागृत करने के लिये अपने जीवन को अपनी जाति के चरणों में समर्पित करना है। उस समर्पण को फलदायी बनाना अथवा निष्फल बनाना हम पर निर्भर है। हमारा यह कर्तव्य बनता है कि साधक के समर्पण से हम हमारी युवा पीढ़ी को अवगत करावें। हमारी वर्तमान पीढ़ी अपने भव्यातिभव्य इतिहास के वारिस बनने की योग्यता एवं सामर्थ्य प्राप्त करे। इसलिए उनका उचित निर्माण करना हमारा उत्तरदायित्व है। हमें अपनी नयी पीढ़ी को ऐसी शिक्षा और संस्कार देने का प्रयत्न करना होगा जिससे उसमें अपने समाज की वर्तमान व्यथा की अनुभूति होने लगे। उसमें ऐसी संवेदना जागृत हो जिससे वे अपने समाज के पुनरुत्थान में अपने आपको जोड़ दें,

समर्पण करें। इसलिये क्षत्रिय युवक संघ आह्वान करता है- 'आओ जरा से बैठकर चेतना नई भरें, सोचना शुरू करें'।

क्या हम नई चेतना भरना चाहते हैं? क्या सोचना-विचारना है? क्या हम अपनी नयी पीढ़ी को निर्बलता, पंगुता, साहसहीनता एवं मूढ़ता से बचाना चाहते हैं? यदि हाँ तो पू. तनसिंहजी ने हमारे लिये 'क्षत्रिय युवक संघ' की स्थापना करके उपाय बता दिया है। अब हमें तो केवल क्षत्रिय युवक संघ के राजपथ पर तीव्रता से दौड़ना है। क्षात्रधर्म के लक्ष्य प्राप्ति का यह एक ही राजपथ है। क्षात्रधर्म क्या है? अमृत तत्त्व की रक्षा और विष तत्त्व का नाश करना ही क्षात्रधर्म है।

आज राष्ट्र में सर्वत्र विषैला वातावरण है। अत्याचार, अनैतिक जीवन व्यवहार, भ्रष्टाचार, लूट, अपहरण, बलात्कार आदि अनेक प्रकार के कष्टों से देश की जनता 'त्राहिमाम्' पुकार रही है। उसे अपना कोई रक्षक दिखाई नहीं देता। सारा विश्व भी त्रस्त है। विश्व भारत की तरफ देख रहा है कि विश्व को विषाक्त वातावरण से भारत ही बचा सकता है। भारत की आशा क्षत्रियों की तरफ है कि ये ही हमारे रक्षक हैं, तारक हैं। यदि हमने निर्भयता एवं स्वार्थहीनता से अपने कर्तव्य का निर्वाह करना शुरू कर दिया तो भारत की प्रजा पुनः हमें अपने हृदयासन में बैठाकर शासन का भार सौंपने का सपना देख रही है।

अब देर नहीं है। समय आ रहा है। सोचना हमें है कि हमारी कितनी तैयारी है। निर्णय हमें करना है कि कब तक हमें अपने व्यक्तिवादी अहं का पोषण करना है? हम उन क्षत्रियों की संतान हैं, जो वैदिक युग से भारत पर शासन करते आ रहे हैं। हमने बहुत से युद्ध खेले हैं। अब इस नये युग में युद्ध की भूमि बदल गई है। युद्ध के साधन बदल गये हैं। युद्ध की रणनीति भी बदल गई है। लेकिन लक्ष्य नहीं बदला है। हेतु नहीं बदला है। पूर्व युग में भी हमारा लक्ष्य था प्रजा की सुरक्षा। आज भी हमारा लक्ष्य यही है। उस युग में विदेशी आक्रमणकारी, लुटेरों से इस देश की जनता की हमने प्राण देकर अपने आपको मिटाकर, सिर कटाकर रक्षा की है, जिनकी अमर कहानियों से भारत का इतिहास भरा पड़ा है। इस नूतन रणभूमि, नूतन रणनीति, नूतन युद्ध में सिर कटवाना नहीं है किन्तु सिर मिलवाना है। हम सबको अपने-अपने निजी स्वार्थ एवं अहम् का त्याग करके 'क्षत्रियत्व' के नाम पर संगठित होकर इस युद्ध में विजय प्राप्त करनी है। जनता तो हमारा सत्कार करने को तैयार बैठी है। यह बात जितनी शीघ्र समझ में आवे, उतना हमारे लिये शुभ है।

अवतरण-47

अब मेरी साधना का पथ सुगम हो गया। गुरु के निश्चित आदेश सुनाई दे रहे हैं, अभिभावकों द्वारा पथ-प्रदर्शन, शुभ-चिन्तकों के शुभकामना संदेश और मित्रों की सहायता मुझे अनायास ही प्राप्त होने लग गई है। मैं अनुभव करता हूँ कि प्रतिकूलता ने अपने आपको अनुकूलता में ढाल लिया है। यह सब किसका चमत्कार है? मेरे मन्दभाग्य का फल? नहीं। मेरे क्षीण प्रयत्नों का परिणाम? यह भी नहीं। उस शक्ति का प्रताप जो पूंजीभूत हो केसरिया ध्वज में निवास करती है? हाँ।

अब साधक कहता है कि मेरी साधना का पथ सुगम हो गया। यह कैसे हुआ? केसरिया ध्वज ने साधक को अपने भव्य इतिहास का दर्शन कराया। उसे अपने गुरु का निश्चित आदेश सुनाई दिया। सब ओर से सहयोग प्राप्त होने लगा। बड़ों के आशीर्वाद प्राप्त होने लगे। शुभ चिन्तकों की शुभकामनाएँ मिलने लगी। मित्रों की तरफ से अनायास सहयोग मिलने लगा। सारी प्रतिकूलताएँ अनुकूलता में परिवर्तित होने लगी। यह चमत्कार कैसे हुआ?

जिसे परमशक्ति में श्रद्धा हो, विश्वास हो, अपने लक्ष्य का स्पष्ट दर्शन हो, साधना में दृढ़ता हो और साधन की शुद्धि हो, तो चमत्कार होगा ही। जब साधक अपने साधना के पथ पर अडिग रहता है तो मार्ग के सारे अवरोध अपने आप हट जाते हैं। जब साधक अपने धर्म, अपनी संस्कृति एवं अपनी जाति के हित के लिये अपने आपको समर्पित कर देता है, अपने सुख-भोग का त्याग करके स्वयं स्वीकृत, कष्ट साधक लक्ष्य के लिये कटिबद्ध

होता है तो परमशक्ति उसकी सहायता के लिये तत्पर हो जाती है।

साधक कहता है-'गुरु के निश्चित आदेश सुनाई दे रहे हैं।' कौन है वह गुरु? और क्या है उनके आदेश? साधक यहाँ जिस गुरु के आदेश की बात करता है, वह गुरु कोई शरीर नहीं है। गुरु तो एक ध्वज है। हमारे लिये इस तत्त्व का प्रतीक है, मूर्तरूप है, 'केसरिया ध्वज'। यदि केसरिया ध्वज हमारा गुरु है तो क्या है उसके आदेश? यहाँ साधक ने केवल 'आदेश' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, 'निश्चित आदेश' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् यह वह आदेश है जिसका पालन करना आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्य है। क्या है वह आदेश? आदेश यह है कि 'मेरे केसरी रंग की तरफ जरा देखो, मैं कैसे केसरिया बना? इस पर विचार करो।' यह विचार हमें करना है। इतिहास बता रहा है कि जब अरब, तुर्क, मंगोल, उजबेक और अफगान इत्यादि के आक्रमण का मुकाबला, सामना, प्रतिकार करते हुए विदेशी एवं विधर्मी आक्रान्ताओं से अपनी भूमि, अपना धर्म और अपनी संस्कृति की रक्षा करते-करते जिन वीर क्षत्रियों ने अपने लहू का रंग दिया है मुझे। उन महान, पवित्र क्षत्राणियों के जौहर से निकली हुई 'केसरी ज्वालाओं' से मैं केसरिया बना हूँ। मेरे इस गौरव को भूलना नहीं। आज इस गौरव में कुछ गिरावट आई है, यह मैं देख रहा हूँ। आपसी फूट एवं अहंकार की मदांधता के कारण मेरा गौरव क्षीण हो गया है। उसे पुनः अपना गौरव देने के लिये संगठन और संघशक्ति को अर्जित करो।' यह है गुरु का निश्चित आदेश।

इस आदेश को शिरोधार्य करके साधक निकल पड़ा है। हम सबका यह परम कर्तव्य बनता है कि अपने-अपने निजी संकुचित स्वार्थ का त्याग करके, आपसी मतभेदों का निवारण करके एकजुट होकर, संगठित-शक्ति से वर्तमान पतनोन्मुख परिस्थिति को ऊर्ध्वगति प्रदान करने का यह आदेश मानकर नम्रतापूर्वक साधना पथ पर अग्रसर होना है।

सामाजिन पुनरुत्थान का कार्य भी सम्भव है जब 'मैं' को 'हम' में बदल दिया जाए। वर्तमान युग संघशक्ति का युग है। 'संघेशक्ति कलौयुगे'। बरसात, वर्षा होती है तो बूंद-बूंद होती है। जब सारी बूंदें एकत्रित होती हैं तो पानी की लीक बनती है। ऐसी अनेकों लीकें मिलकर नाला बनती है। असंख्य नालाओं का एक धारा में बहना ही नदी कहा जाता है। सारी नदियाँ एक स्थान पर संगठित होने पर समुद्र बनता है। जिसे सुखाना, पार करना, बांधना मुमकिन नहीं है। बूंद को सुखाया जा सकता है, समुद्र को नहीं। व्यक्ति को रोंदा जा सकता है, समूह को नहीं। आज निर्बल लोग भी एकत्रित होकर, संगठन से अपने अधिकार से, अपनी पात्रता से कहीं अधिक पा लिया करते हैं।

आज का समय लोक संग्रह का है। संघर्ष एवं स्पर्धा आज भी है परन्तु आज संघर्ष के साधन बदल गए हैं। हमारे पूर्वज अपने भुजबल से लड़े थे। हमें संघबल से लड़ना है। संघ की शक्ति को सबल बनाने के लिये हमें अपने व्यक्तिगत अहं का त्याग करना पड़ेगा। क्षत्रिय युवक संघ व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के निर्माण के लिये कार्य कर रहा है। हम आत्म निरीक्षण करके अपने दोषों को दूर करके, अपने सीमित क्षेत्र से बाहर निकल कर 'संघ' की दृष्टि को स्वीकार कर कार्य करेंगे तो व्यक्ति के द्वारा राष्ट्र निर्माण का कार्य गतिशील होगा। परमात्मा हम सबको समझ और शक्ति प्रदान करें जो हमें लक्ष्य की शीघ्र प्राप्ति करने में सहायक बने।

अर्क-आत्मदर्शन से स्वदोष निवारण का मार्ग मिलता है। आत्मदर्शन से आत्मचेतना जागृत होती है, जिससे साधना पथ पर गति मिलती है।

अवतरण-48

''ओ साधक! साधना प्रारम्भ करने के पूर्व स्तब्ध होकर सुन-अपने लक्ष्य को एकाग्र होकर देख। तेरे सम्मुख विशालता, सुन्दरता, उच्चता और तात्कालिक सफलता को लिए हुए कई अन्य आदर्श ध्येय बनकर आयेंगे। सिद्धि-प्राप्ति के प्रलोभन में पड़कर उनकी ओर आकर्षित मत हो जाना, वे विष-कन्या के सदृश्य त्याज्य हैं।''

मैंने अपने ध्येय के प्रति निष्ठा और अनन्यता के इस गुरु-मंत्र को सुना।

विगत अवतरण में साधक कहता है कि 'मेरी साधना का पथ सुगम हो गया है। गुरु के निश्चित आदेश सुनाई दे रहे हैं।' अब साधक के लिये दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हो गई। एक गुरु का निश्चित आदेश मिल गया। गुरु ने आदेश दे दिया कि क्या करना है। लक्ष्य क्या है। दूसरी बात-लक्ष्य निश्चित हो गया तो साधना पथ भी सुगम हो गया।

जब साधक ने अपने निश्चित लक्ष्य की तरफ कदम उठाए तो शुभचिंतकों की शुभकामनाएँ मिलने लगी। प्रतिकूलताएँ अनुकूलता में परिवर्तित होती दिखाई देने लगी। साधना पथ सुगम बनने से साधना में गति का तीव्र होना स्वाभाविक है। बस, इस बात को लेकर साधक कहीं असावधान न हो जाए, पथ की सुगमता और गति की तीव्रता में लक्ष्य चूक न जाए। जब थोड़ी-सी भी सफलता मिलती है तो साधक असावधान हो जाता है। तब प्रतिघातिनी शक्तियाँ उसे मार्ग से भटकाने के लिये षड्यंत्र करने लगती हैं। लुभावने, मोहक प्रलोभन देती हैं। जैसे-जैसे साधक साधना पथ पर अग्रसर होता जाता है, उसे सफलता मिलती है। जब साधना के क्षेत्र में उसकी साधना के बल पर प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, तो उसे अपने लक्ष्य से भ्रमित करने के लिये मान-सम्मान देकर अन्य प्रवृत्तियों में जोड़ने का प्रयास होने लगता है। इसलिए गुरु ने साधक को सावधान कर दिया है।

गुरु कहते हैं-जैसे द्रोपदी के स्वयंवर में अर्जुन केवल मछली की आँख को ही देखता है। वैसे साधक को केवल अपने साध्य की तरफ ही ध्यान देना है। उसके मन को साध्य में ही केन्द्रित करना है। एकाग्र करना है। मार्ग में ऐसे प्रलोभन भी आ सकते हैं जो अल्पजीवी सफलता में फंसाने का प्रयत्न करेंगे। आदर्श बदले नहीं जाते हैं। लक्ष्य एक ही होता है। बार-बार लक्ष्य बदलते नहीं हैं। इसका अच्छा उदाहरण हमें रामचरित मानस से हनुमान जी के चरित्र से मिलता है। जब वे सीता जी की खोज के लिये जाते हैं तो किष्किंधा काण्ड, जामवन्त हनुमान जी से कहते हैं-'राम काज लगि तव अवतारा'। आपका अवतार राम के कार्य के लिये ही हुआ है। हमारा अवतार भी अपने स्वजातीय उत्थान के लिये ही हुआ है। हमारे जीवन का लक्ष्य भी एक ही है, हमें अपने समाज का, हमारे राष्ट्र का पुनरुत्थान करना ही है। फिर जब हनुमान जी समुद्र लांघ कर लंका में जाते हैं तो मार्ग में विघ्न भी आते हैं। सुरसा एक विघ्न है। हनुमान जी की कर्तव्य निष्ठा एवं लक्ष्य की एकाग्रता से सुरसा जो प्रतिकूल बनकर आयी थी वह अनुकूल बन गई। लंका में लंकिनी विघ्न है, उसे घूंसा मारा तो ब्रह्माजी द्वारा राक्षस विनाश की बताई गई पहचान को याद कर बोल उठी-

तात मोर अति पुण्य बहूता।
देखेऊँ नयन राम कर दूता।।

इस प्रकार जो हनुमान जी के लिये अवरोध थी, वह हनुमान जी के दर्शन से अपने को बहुत पुण्यशाली मानने लगी, इसका कारण क्या है? कारण है हनुमान जी की लक्ष्य निष्ठा एवं लक्ष्य प्राप्ति में आने वाले हर अवरोध को अवसर में बदलने की क्षमता। इसी संदर्भ में एक और उदाहरण देखें। जब मेघनाद ने लक्ष्मण पर वीरघातिनी शक्ति का प्रहार किया और लक्ष्मण मूर्छित हो गये, उनकी मूर्छा दूर करने के लिये संजीवनी लेने के लिये हनुमान जी जाते हैं। सूर्योदय के पूर्व वापस पहुँचना है। तो रास्ते में कपट मुनि का सुन्दर आश्रम का आकर्षण उन्हें विचलित नहीं कर पाता है।

बस इसी प्रकार साधक को साधना पथ में छोटी-छोटी सिद्धियों की प्राप्ति के प्रलोभन से बचने के लिये सावधान किया जाता है। हम सब कार्यकर्ताओं को प्रलोभनों से बचकर एकाग्रचित होकर अपने लक्ष्य की तरफ आगे बढना है। हमारे कई कार्यकर्ताओं की शुभ प्रवृत्तियों को देखकर अन्य संस्थाएँ उन्हें अपने साथ जुड़ने के लिये निमंत्रित करती हैं और पद देने के प्रलोभन देती हैं। ऐसी स्थिति में हमें अपने पथ पर अटल रहना है। हम क्षत्रिय संवेदनशील हैं। एकनिष्ठ हैं। अपने आदर्श की पूर्ति

(शेष पृष्ठ 17 पर)

जीवन निर्माण (संस्कार निर्माण) की बातें

– स्व. सूरतसिंह कालवा

शास्त्रों में मनुष्य देह परमेश्वर की श्रेष्ठ कृति कही गई है। परन्तु मेरे जैसे अनेक मनुष्य इस अमूल्य मानव शरार को प्राप्त करके भी इसका दुरुपयोग करते देखे जाते हैं। मेरे जैसे ऐसे ही लोगों के लिये ''धरती का भार'' की संज्ञा दी गई है।

पेड़ पौधे जंगल में भी होते हैं और उपवन में भी, फर्क यही होता है कि एक श्रेष्ठ माली उपवन के पौधों को एक श्रेष्ठ स्वरूप देता है। जंगल में पौधे झाड़-झंखाड़ के रूप में बढते ही जाते हैं।

मानव जीवन की भी यही बात है, श्रेष्ठ चिन्तन रूपी माली एक श्रेष्ठ जीवन (संस्कार) का निर्माण करता है। इसके विपरीत जीवन तो अधोगति कराने वाला ही होता है। मेरा जीवन श्रेष्ठ मानव जीवन बन सके इसके लिये बहुत आवश्यक है कि :-

* मेरा सोच सकारात्मक हो। कमरे में अन्धेरा हो तो लाठी दिखाने से अन्धेरा भाग नहीं जाएगा। अन्धेरा भाग, अन्धेरा भाग चिल्लाने से भी अन्धेरा भागने वाला नहीं है। कमरे में लगे बिजली के स्विच को ऑन करने से अन्धेरा दूर हो जाएगा। इसीलिए तो कहा गया है कि अन्धकार का कोई महत्त्व नहीं होता, उसका कोई अस्तित्व नहीं होता, प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। अन्धकार को धिक्कारने से नहीं, वरन् एक दीप जलाने से अन्धकार दूर हो जाता है।
* जीवन में पीछे की ओर चलने से नहीं, बल्कि आगे की ओर बढ़ने से मंजिल (लक्ष्य) की प्राप्ति होती है। दिल में इरादे, निश्चय, संकल्प अटल (दृढ़) हों तो बात बन जाती है। इसलिए उत्साह और उल्लास सदा प्रयत्न-पूर्वक बढाते रहना चाहिए। मेरी आत्मा की पुकार है कि वह हर पल परमेश्वर के साथ रहे। प्रतिदिन पूर्व दिशा से उगता हुआ सूरज यही सन्देश देता है कि मुझे प्रतिपल प्रभु का अर्थात् लोक कल्याण (समाज सेवा) का कार्य करना है, मेरे जीवन से अहंकार को हटाना है तभी मेरे अन्दर से मेरे कार्य से प्रभु की इच्छा से भरा मधुर स्वर मेरे अन्दर प्रस्फुटित होगा। मेरा जीवन एक संगीत बन जाना चाहिए।
* प्रभु की इच्छा, लोक कल्याण की इच्छा, समाज सेवा की इच्छा, संघ कार्य के विस्तार की इच्छा को अपनी दृढ इच्छा (संकल्प) को मैं अनसुना न करूं। जीवन में हर पल मेरी परीक्षा होती है कि मैं किस मिट्टी का बना हूँ।
* मेरे जीवन का प्रत्येक क्षण मैं मनोयोग पूर्वक जीने का प्रयत्न करूं। जीवन के हर पल को अपना कर्तव्य अपना संकल्प, अपना निश्चय याद करते हुए मैं ईमानदारी से जीना सीखूं और निर्भय होकर जीऊँ।
* जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक रूप से साहसी बने रहने में है। अभय होना आसान बात नहीं है। अभय ही तो जीवन का स्रोत है। प्रभु की राह पर चलने में भय कैसा? किस बात का भय? क्यों? भय शरीर को तो कमजोर करता ही है मनोबल को कमजोर करता है। अनेक भयंकर बीमारियों का कारण भी भय है। प्रभु के हाथों में अपना जीवन सौंपकर मैं अभय हो सकता हूँ।
* सफल जीवन क्या है? भौतिकता, सामाजिकता आध्यात्मिकता के सन्तुलन का नाम ही जीवन है। इन तीनों में संतुलन बनाना और बनाए रखना ही मेरा दायित्व है।
* अपने दुखों को भुलाकर परोपकार (समाज सेवा) में जुट जाने वाला ही महान् होता है। रोगी अवस्था में या मानसिक तनाव की अवस्था में ही नहीं, हर परिस्थिति में जीवन का सम्मान करना चाहिए। दुखों से घबराकर कष्टों से घबराकर, उपेक्षित सा महसूस होकर पलायन

करना या पलायन का विचार करना अथवा आत्मघात का विचार करना समझदारी नहीं, मूर्खता है। समय, परिस्थितियाँ शाश्वत नहीं, परिवर्तनशील हैं। सुख-दुख तो जीवन में आते-जाते रहते हैं।

* सुख बाहरी वस्तुओं में नहीं, अपितु मेरे सोचने पर निर्भर करता है। सुखी होने के लिये, दूसरे की जरूरत पड़े, इसका मतलब है कि दूसरे की इच्छा पर निर्भर रहना। हर प्रकार की पर-निर्भरता दुखदायी होती है। संसार में किसी वस्तु में अथवा किसी घटना में या किसी व्यक्ति में सुख खोजता हूँ तो उसका अन्तिम परिणाम दुख ही है। प्रभु का निरंतर स्मरण ही एक मात्र औषधि है।
* जीवन में आत्म केन्द्रित भी नहीं होना चाहिए। अपने हर काम को, विचार को या दृष्टिकोण को सबसे महत्त्वपूर्ण मानने का अर्थ है कि मैं अपने आपको ही महत्त्व देता हूँ, स्वयं को ज्ञानी, तत्त्वदर्शी और सिद्ध पुरुष और परमहंस मानता हूँ, अर्थात् मैं आत्मकेन्द्रित हो रहा हूँ। ऐसी अवस्था में दूसरे के विचार या दृष्टिकोण को समझने की मेरी क्षमता क्षीण हो जाती है। किसी व्यक्ति में हजार गुण हैं, किन्तु उसमें निजी स्वार्थ का एक भी अवगुण आ जाए; अहंकार आ जाए तो उसके सारे गुण समाप्त हो जाते हैं।
* आजकल हर व्यक्ति (मनुष्य) प्रमत्त हो गया है। मैं भी, अत: मुझे अपने अपकर्मों का फल भोगना चाहिए। मैं जब संध्या तथा सूर्योपासना से विमुख होकर, प्रभु से मुँह मोड़कर स्वयं को ही सर्व श्रेष्ठ परमहंस मानता हूँ तब शनि कुपित होते हैं। कलि का कुप्रभाव मुझे श्रद्धा विमुख बनाता है। बृहस्पति स्वभाव से दयालु हैं, उन्हें यह सोचकर ही खेद होता है। धरा जो रत्नगर्भा है अब अकाल और रोग पीड़िता संघर्ष संत्रस्ता होकर उत्तरोतर अभाव ग्रस्त होती जायेगी। विश्वसृष्टा की महानतम कृति मानव अब क्षुत्क्षाम कंकाल कलेवर अशान्त भटकता फिरेगा।
* मैं (मनुष्य) अब क्या कर सकता हूँ? बुद्ध जो बुद्धि के प्रेरक हैं, प्रसन्न नहीं थे, उनके स्वर में भी भेद था। हम क्या कर सकते हैं? हम शक्ति और प्रेरणा दे सकते हैं। परन्तु मैं (मनुष्य) आजकल ऐसी समस्त प्रेरणाओं को विकृत बना रहा हूँ। मैं अपनी संपूर्ण शक्तियों के दुरुपयोग पर उतर आया हूँ।
* सारी वसुधा एक कुटुम्ब के समान है। सारी धरती एक देश है। हम सब कुटुम्बी और बन्धु-बान्धव हैं। परमपिता परमेश्वर ही हम सबका पिता है। हमारा (मेरा) कर्तव्य और दायित्व है कि मैं (हम) उस परमपिता परमेश्वर के नाते सबको अपना ''बन्धु'' मानते हुए उनके कल्याण का निरंतर प्रयास करूँ।
* इस क्षणभंगुर जीवन में मनुष्य को, हमें अच्छे कार्य करने चाहिए। अच्छे कार्य से तात्पर्य है-ऐसे कार्य जिससे समाज और मानवता का भला हो। यही क्षत्रियत्व है और यही क्षत्रिय का धर्म है, यही कर्तव्य है और यही उत्तरदायित्व है। आवश्यकता है जीवन निर्माण अर्थात् सुसंस्कारों में ढलना।

महाभारत की विदुला ने अपने हतप्रभ पुत्र संजय से कहा था-

''ज्वलंतं मुहूर्त श्रेयो न तु धूमायुतं चिरं''

अर्थात् एक क्षण का ज्वलंत मुहूर्त जीवनयापी धूम्र से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि वह मानव जीवन की सार्थकता को प्रज्वल करता हुआ गहन तमिस्रा को छिन्न-भिन्न करने की शक्ति रखता है।

बात तो बात में से ही निकलती है। बात समझ लेने को व्यक्ति के सामने मुँह से ही कुछ कहना जरूरी थोड़े ही होता है। कई बार मौन भी शब्द से अधिक मुखर हो जाता है। विवेक का साथ छूटने पर निर्णय लेना आसान नहीं होता। सुख सुविधा तलाशने की लालसा कई बार अनर्थ करा देती है। अपने मन को सबसे बड़ा मानकर दूसरे की पीड़ा का कारण बनना जरूरी बात नहीं है। एक के डगमगाने पर दूसरा उसे संभाल ले यही तो परिवार और समाज है, इसी से स्वस्थ और सबल समाज और राष्ट्र बनता है। समाज से पाने के लिये समाज को कुछ देना भी

पड़ता है, देना ही चाहिए। अपने मन को (इच्छा को) सबसे बड़ा (महत्त्वपूर्ण) मानकर दूसरे की पीड़ा का कारण बनना समाज चरित्र नहीं है। मन और सामाजिक दायित्वों को तोलते समय मन का पलड़ा हमेशा भारी रहता आया है। अपने मन के कारण सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मन के दरवाजों पर तो बहुत से अदृश्य ताले होते हैं, उन्हें समय से पूर्व किसी भी चाबी से नहीं खोला जा सकता। समय की चाबी ही उन्हें खोलने का सामर्थ्य रखती है। तन से अधिक मन के घाव सालते हैं। तन पर लगे घावों का दर्द तो फिर भी सहा जा सकता है, लेकिन मन पर लगी हल्की-सी खरौंच जीवन भर सालती रहती है। तन का घाव तो समय पाकर भर जाता है, मन का घाव तो जीवन भर खुला रहकर जीवन भर सालता रहता है।

समानधर्मा तो सदैव ही ''बन्धु'' रहते आए हैं। सन्देह की पुष्टि किए बिना किसी पर विश्वास कर लेने से कई बार कई अनर्थ हो जाते हैं। प्रेम में आदर का स्थान नहीं होता। एक दूसरे के प्रति समर्पित हो जाने के बाद आदर जैसी औपचारिकताएँ तो कहीं बहुत पीछे छूट जाती हैं। बहुत-सी स्मृतियाँ जीवन की कड़वाहट सहने की शक्ति प्रदान करती हैं। यथार्थ का कठोर धरातल कल्पना के बीज को अंकुरित होने में सदैव ही बाधक बनता आया है। यथार्थ को समझने के लिये अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं होती, विवेक का एक क्षण वस्तुस्थिति का आभास कराने में पूर्ण समर्थ होता है।

मेरे (हमारे) पूर्वजों ने बहुत सोच समझ कर ही सामाजिक मर्यादाओं का निर्धारण किया है। किसी के प्रभावशाली तर्कों से सामाजिक मर्यादाएँ नहीं बदल सकतीं। सबल-सामर्थ्यवान का आचरण ही शेष समाज को स्वीकार के लिये विवश करने की धारणा निरर्थक और अशोभनीय ही है। स्वयं को सुरक्षित रखकर कोई कैसा ही नैतिक-अनैतिक कर्म (आचरण) करने का स्वयं को अधिकारी भले ही समझ बैठे किन्तु क्या जीवन निर्माण (संस्कार निर्माण) की यही प्रणाली है? नैतिकता की परिभाषाएँ गढने का क्या कोई एकमात्र अधिकार होता है? उच्च वर्गीय स्त्री-पुरुषों का आचरण पूरे समाज को प्रभावित करता है। उन्हें उदाहरण बनाकर (देखकर) शेष समाज भी उसी राह पर चल पड़ता है। ऐसी स्थिति में वह धारणा निरर्थक ही तो है। वह धारणा शोभनीय बने इसके लिये मुझे स्वयं क्षत्रियोचित संस्कारों में ढलकर जीवन निर्माण की दिशा में आगे बढ़ना होगा।

सफलता असफलता का रहस्य कुछ नहीं होता कर्म ही सब कुछ है, फल तो ईश्वर देता है। यदि मेरे (हमारे) कर्मों का सब हिस्सा अनुकूल फल देने वाला होगा तो परमेश्वर मेरी (हमारी) उम्मीदों से ज्यादा फल (मुझे) हमें देगा। कर्म तो करना ही पड़ेगा, कर्म करने से ही एकत्व की प्राप्ति होती है यह बात नहीं है 'कर्म योगेन योगिनाम' योग का आश्रय लेकर कर्म का अनुष्ठान करना होगा। कर्म से चालित न होकर जो स्वयं कर्म चलाता है। वही होता है 'कर्मयोगी'। मुझे भी (हमें भी) कर्मयोगी बनना है।

शारदानन्दजी ने कहा-क्षत्रिय नरेश कर्मयोग का अनुष्ठान कर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करते थे, उन्हीं से ब्राह्मणों में व अन्य वर्गों में कर्मयोग का प्रचार हुआ।

कर्मयोग की बातें करना आसान है, बातों से कर्मयोग नहीं साधा जा सकता। कर्मयोग की परिभाषा यदि मैं अपने अनुसार, अपनी सुविधा के अनुसार समझाने की जुगत में लग जाऊँ। तो कर्मयोग की बातें करते हुए मैं यह दर्शाने से नहीं चूकूंगा कि मैं अब कर्मपथ पर बहुत बढ गया हूँ। जीवन निर्माण (संस्कार निर्माण) के पथ पर चलते मुझे यह भलीभाँति समझना होगा कि-कहीं मेरी जिज्ञासा तो बदलती नहीं जा रही है। कर्मयोग की बात करें और कर्मयोग की और निष्ठा की परिभाषा भी बदलते जाँय तो हम सोचें जरा कि-

क्या गंतव्य मिलेगा जब अभिलाषा बदला करती है,
समाधान क्या होगा जब जिज्ञासा बदला करती है।
गिरगिट सा व्यवहार मेरा क्या विश्वास किया जाए,
आए दिन जब निष्ठा की परिभाषा बदला करती है।

यह एक समस्या है, किन्तु शायद सुहाती समस्या

है। खैर, जीवन है तो समस्याएँ भी हैं। जीवन को समस्याओं से अलग नहीं किया जा सकता। संघर्ष तो है ही, समस्या से हार मानकर बैठे रहना इसका समाधान नहीं है। समस्या है तो उसका समाधान भी जरूर होगा। इसके लिये आवश्यक है-सकारात्मक सोच, यही महत्त्वपूर्ण है। सकारात्मक सोच के लिये आवश्यक है-ईश्वर में आस्था। अध्यात्म व अदृश्य ईश्वरीय शक्ति में आस्था सकारात्मक सोच उत्पन्न कराती है। हौसला (साहस) धैर्य, सहनशीलता, प्रेम करुणा आदि भावों को अपने भीतर उत्पन्न करना ही होगा। अपने साहस को यह बताने की जरूरत नहीं है कि हमारी समस्या कितनी बड़ी है बल्कि अपनी समस्याओं को यह बताना होगा कि मेरा (हमारा) साहस कितना बड़ा है। धैर्यपूर्वक, शान्त भाव से समस्याओं से निपटा जा सकता है। बस, सदा याद रखना होगा कि मुझे (हमें) जीवन निर्माण (संस्कार निर्माण) करना है।

अपना ''जीवन निर्माण'' करना है, स्वयं को संस्कारों में ढालना है तो किसी पर इतना निर्भर न रहें कि उसके जाने के बाद जीवन एक बोझ बन जाए। किसी से भी इतना बहस-विवाद भी न करें कि उसकी नजरों में हमारा (मेरा) सम्मान ही घट जाए। दूसरों को दुखी देखकर मैं मुस्कराऊं, यह उचित नहीं है? समय का क्या पता वह कल मुझे रुलाए। किसी को इतना भी न सताऊँ कि उसका दिल ही टूट जाए और उसकी जीने की लालसा ही मिट जाए। बुजुर्गों (वरिष्ठों) को यथोचित मान-सम्मान दूँ ताकि आने वाली पीढ़ी भी इसे दोहराती जाए। अपनो में मैं केवल दोष ही ढूँढता रहूंगा तो बहुत सम्भव है कि अनजाने में हमारे बीच एक दिन नफरत की दीवार भी खड़ी हो सकती है।

सन्मार्ग पर चलते हुए,-कर्मयोग के पथ पर बढते हुए, कठिनाइयाँ तो आएँगी ही, पराये तो पराये अपने भी पराये होकर सामने खड़े दिखते हैं, विरोध शुरू हो जाता है। पग-पग पर काँटे बिछे मिलते हैं, किन्तु यदि निश्चय दृढ हो कि मैं अपने भाग्य को बदलूंगा। जीवन के पथ तो टेढे-मेढे हैं, न जाने कहाँ हमें (मुझे) भटकायेंगे। मैं सदा सचेत और सावधान रहूँ। चाहे कितनी ही आँधियाँ आएँ, काँटें चुभें, तूफान आएँ परन्तु मुझे यदि अपना जीवन निर्माण करना है, संस्कार निर्माण करना है तो कभी भी झुकूंगा नहीं। भूलूं नहीं कि मैं किसी जंगल का झाड़-झंखाड़ नहीं, एक श्रेष्ठ माली (पू. तनसिंहजी) के ''**उपवन**'' का पौधा हूँ।

आँधियों तूफानों की जिद है कि बिजली वहीं गिराएँगे।
मेरी भी जिद है कि अपना आशियाँ वहीं बसाऊँगा।।

✻

पृष्ठ 13 का शेष

मेरी साधना

के लिये, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्राणों का भी समर्पण करने की हमारी क्षमता है। परम्परा है। आज फिर से समय ने हमें ललकारा है। हमारे पूर्वजों की गौरव युक्त इतिहास यात्रा में जो सौ साल का अन्तराल आ गया है, उस अन्तराल को हटाकर पुनः अपने भव्य इतिहास की नूतन कड़ी जोड़ने का हमारी पीढ़ी को मौका मिला है।

हमें अपने नवयुवाओं को अपने इतिहास, अपने कर्तव्य और अपनी स्वजातीय पहचान से अवगत कराना होगा। उन्हें 'क्षत्रिय युवक संघ' की प्रवृत्तियों में जोड़ना होगा। क्षात्रत्व के दिव्य गुणों पर जो दूषित आवरण छा गया है उसे हटाकर जन साधारण को हमारी अपनी क्षात्रशक्ति से अवगत कराना होगा।

इस लक्ष्य की पूर्ति में एकाग्रता से गहरा सम्बन्ध स्थापित करके संगठन को मजबूत बनाने में जुट जाने का वर्तमान धर्म है। हमारा आज यही स्वधर्म है।

ठीक समय पर साधक को सावधान किया गया है। हम सब साधक ही तो हैं। हम सब किसी भी प्रकार के संशय में न पड़कर, कदम से कदम मिलाकर अविरल गति से लक्ष्य के प्रति अग्रसर होने का निश्चय करके प्रवृत हो जाएँ।

अर्क-कालौ अश्वो वहन्ति। काल-समय-अश्व गति से दौड़ रहा है।

(क्रमशः)

राव रायमल शेखावत

– स्व. सुरजनसिंह झाझड़

ऊगो सिखर अभंग–रै, रणथंभ रायामाल।
जुड़ खग झाटां कीध जिण, द्रहबाटां हिंदाल।।

नवाब हिंदाल से लोहा लेने वाले, शेखाजी के पुत्र रायमल शेखावतों की वंशपरम्परा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हुए हैं। वे अपने पिता शेखाजी से भी अधिक प्रतापी, राजनीति–विशारद और प्रसिद्ध व्यक्ति थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के उन कार्यों का, जिनसे राजपूताने का तत्सामयिक इतिहास प्रभावित हुआ था, शेखावत–इतिहासों में उल्लेख न मिलना आश्चर्यजनक ही है। आइने अकबरी, मुहणोत नैणसी की ख्यायत और इतालबी विद्वान् डॉ. टेसीटोरी (तेसीतोरी) द्वारा सम्पादित बीठू सूजा का ''राव जइतसी–रो छन्द'' नामक ग्रंथों के सुलभ हो जाने से रायमल–सम्बन्धी कुछ तथ्य प्रसंगवशात् प्रकाश में आये हैं, जिनसे रायमल की महत्ता, विशिष्टता और राजनीतिक प्रभाव का बोध सर्वप्रथम इतिहासज्ञों को हुआ है।

हणूंतिया ग्राम के निवासी पालावत शाखा के बारहठ श्री उदयसिंह जी के सौजन्य से रायमल के सम्बन्ध का एक प्राचीन डिंगल गीत प्राप्त हुआ है, जिससे रायमल के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर अच्छा खासा प्रकाश पड़ता है। उपरोक्त ग्रन्थों में वर्णित रायमल के महत्त्व की इस गीत के माध्यम से और अधिक पुष्टि होती है। पाठकों की जानकारी के लिये उक्त गीत यहाँ उद्धृत किया जा रहा है–

(गीत)

अन्तर सझि बस करण दत्त आडो,
दोमझ कछवाहो दुझळ।
आसँगणी मुगल नह आवै,
राठौड़ै ही रायमल।।
देसाँ गढाँ ठाकराँ दूजाँ,
रिण सझिये अन सझिये रूक।
खुरसाणियें अनै खेड़ेचै
ढूँढाहड़ै न सकिया ढूक।।
प्रथमी बड़ी सयल जग पुणवै,
दुजड़ां कर सहिया दुझाल।
बाबरवत गाँगावत बलवँत,
सेखावत सालै उर साल।।
मीर हुमायूँ अनै मालदे,
नमै न रायामल नादेत।
सीहाँ बिहुं बिचै सेखावत,
बालाहरो बड़ो बिड़देत।।

मुगल बादशाह बाबर की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र हुमायूं ने मालवा और गुजरात के मुस्लिम शासकों को नष्ट करके दिल्ली सल्तनत को शक्तिशाली बना लिया था। राजपूताना में राणा संग्रामसिंह के रिक्त स्थान की पूर्ति जोधपुर का राव मालदेव कर चुका था। उसने पश्चिमी राजपूताना के छोटे–बड़े अनेक राज्यों को समाप्त करके अपने लिए एक विस्तृत, शक्तिशाली और महान् मारवाड़ राज्य की स्थापना कर ली थी। मेड़ता, बीकानेर, नागौर, झुन्झुनू, फतहपुर आदि राज्य उस विकराल ग्राह के मुख में समा चुके थे। इस प्रकार मुगल और राठौड़ उस समय की दो उदीयमान शक्तियाँ थीं। ऐसी दो सबल शक्तियों के बीच में शेखाजी का पुत्र कछवाहा रायमल अडिग गिरि–शृंखला की भाँति सिर उठाये खड़ा था। रायमल के अमरसर राज्य की पूर्वी सीमा बादशाह हुमायूं के मेवात सूबे से मिलती थी तो पश्चिमी सीमा राव मालदेव के नव विजित राज्यों को छूती थी। फिर भी हुमायूं और मालदेव ने अपने राज्यों के बीच में विद्यमान रायमल के राज्य पर आक्रमण करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। दो शक्तिशाली राज्यों के बीच में बफर स्टेट की तरह रायमल का राज्य अक्षुण्ण बना रहा। इसका श्रेय राव रायमल की वीरता, सैनिक क्षमता, दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता पर आधारित था। उपरोक्त डिंगल गीत में राव रायमल के इसी महत्त्व का बोध कराया गया है। गीतकार का आशय है कि–''दुर्द्धर्ष वीर यह रायमल कछवाहा मुगलों और राठौड़ों दोनों द्वारा ही अजेय है। उस काल की दो महान् शक्तियों मुगलों और राठौड़ों के बीच में यह कछवाहा अवरोधक बना हुआ है। उनके बीच में तीसरी शक्ति के रूप में खड़ा है।

''मुगलों और राठौड़ों ने अपने अतिक्रमण की सीमा में आने वाले समस्त देशपतियों, गढ़पतियों और ग्रामपतियों का पराभव कर डाला, किन्तु यह दोनों ही आक्रामक शक्तियाँ ढूँढाड़ देश के वीर रायमल की तरफ आँख उठाकर भी देखने का साहस नहीं कर सकीं। तलवार उठाये युद्धों के लिये सन्नद्ध रायमल न मुगलों के बस में हुआ और न राठौड़ों के। न उसे मुगल जीत सके और न राठौड़ ही।

''यह संसार बहुत बड़ा है। इसमें एक से एक महान् योद्धा जन्मते आये हैं। किन्तु सब लोग यही कहते हैं कि शेखा के पुत्र रायमल को छेड़ने का साहस न तो बाबर के पुत्र हुमायूं में है और न गांगा के पुत्र मालदेव में। तलवार उठाये वह उद्धत वीर उन दोनों के हृदय में सूल की भाँति चुभ रहा है।

''बादशाह हुमायूं और राव मालदेव के सामने पराक्रमी रायमल कभी नहीं झुका। बाला का पौत्र महान् विरुद को धारण करने वाला (यशस्वी) राय मल शक्तिशाली मुगल और प्रतापी राठौड़ रूपी दो सिंहों के बीच में, निर्भय खड़ा उनकी तनिक भी परवाह नहीं करता।''

राव रायमल के जीवन की कुछ एक मुख्य-मुख्य घटनाओं पर संक्षेप में नीचे प्रकाश डाला जा रहा है-

सं. 1545 वि. के प्रारम्भ में अपने पिता शेखाजी के घाटवा के युद्ध में गौड़ों से लड़कर वीरगति पाने के पश्चात् राव रायमल कछवाहों के अमरसर राज्य के स्वामी बने। राव शेखाजी के समय की सुसंगठित और शक्तिशाली राजपूत और पठान-सेना उन्हें विरासत में मिली। यह वह समय था जब मुसलमानों का दबदबा और आतंक उत्तरी भारत पर छाया हुआ था। दिल्ली, जोनपुर, मालवा और गुजरात में मुसलमान सुल्तान राज्य कर रहे थे। दुर्दान्त और धर्मान्ध मुसलमान सैनिक किसी हिन्दू के मातहत रहना अपनी शान के खिलाफ समझते थे। ऐसे समय में काबुल के सीबी प्रान्त के बर्बर पन्नी पठानों के सबल बेड़े का रायमल की सेना में उनके नेतृत्व में रहना सिद्ध करता है कि वे अपने समय के दक्ष सेनानायक और प्रतिभाशाली राजनेता थे जिन का प्रभाव राजपूत और पठान सैनिकों पर समान रूप से था। मुगलों को भारतवर्ष से निकालकर दिल्ली के सुलतान बनने वाले पठान शेरशाह सूर का पिता मियां हसनखाँ भी अपनी जवानी के प्रारम्भिक वर्षों में रायमल की सैनिक सेवा में रहकर ही ऊँचा उठा था। (आइने अकबरी, ब्लोकमैन का अनुवाद, पृ. 462; मआसिरुल उमरा, पृ. 351 और डॉ. कानूनगो का शेरशाह और उसका समय, पृ. 8 और 375)

दिल्ली के सुल्तान सिकन्दर लोदी के फौजदार नवाब हिन्दाल ने एक बार अमरसर पर चढ़ाई की और शिखरगढ़ को घेर लिया। उस युद्ध-क्षेत्र में अपनी रणचातुरी और वीरता से हिन्दाल को हराकर राव रायमल ने समकालीन राजपूत-नरेशों में बड़ी ख्याति अर्जित की थी।

अप्रकाशित रचना 'कुंभारासा' से विदित होता है कि शिखरगढ़ के उस युद्ध में आमेर (जयपुर) नरेश राजा चन्द्रसेण ने भी अपने छोटे पुत्र कुंभा को राव रायमल की मदद पर भेजा था। राजकुमार कुंभा युद्ध में बड़ी वीरता से लड़कर मारे गये थे-जिसका वर्णन कुंभारासा में इस प्रकार मिलता है-

(छप्पय)

काम कँवर कुंभेण, येम अमरासर आये।
मारे दळ मेच्छाण, धरा खँभ खाग धपाये।।
हार मान हिन्दाल, भोम तज जीवत भज्ज्यो।
गज भंजण मृगराज, जंग जीवण नें गज्ज्यों।।
रण मझ-कट पड़ियो सुभट, सिखरगढ़ साको कियो।
आमापुर ओप चाढ़ी अनँत, चन्दसेनसुत सुरपुर गियो।।

राजा चन्द्रसेन जी सं. 1559 वि. तक जीवित थे। अत: यह युद्ध सं. 1559 वि. से पूर्व किसी समय में लड़ा गया था।

बीकानेर के राव लूणकरण ने सं. 1583 वि. में नारनोल पर आक्रमण किया। छापर द्रोणपुर होते हुए मार्ग में फतहपुर और झुन्झुनू के क्यामखानियों से दण्ड लेकर वह पचेरी पहुँचा। उस विशाल सेना में द्रोणपुर का स्वामी बीदावत कल्याणमल उदयकरणोत भी शामिल था। राव लूणकरण का विचार वापिस लौटते समय द्रोणपुर ले लेने का जानकर कल्याणमल अपने नाना रायमल शेखावत से

मिला और उस संकट से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना की। राव रायमल खण्डेला के निरवाण और पाटण के तंवरों को साथ लेकर नारनोल पहुँचा और नारनोल के फौजदार शेख अबीरा के साथ मिलकर राव लूणकरण के मुकाबले पर गया। ढोसी के डूंगर के पास युद्ध हुआ जिसमें राव लूणकरण अपने तीन पुत्रों के साथ काम आया और बीकानेर की सेना भाग खड़ी हुई। (नैणसी की ख्यात, भाग 2, पृष्ठ 107; ओझा-कृत बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 118)

इस प्रकार राव रायमल ने कल्याणमल बीदावत और बागड़ प्रदेश के अन्य छोटे-छोटे राज्यों को उस विकराल ग्राह के मुख में जाने से बचा लिया।

सं. 1590 वि. में मुगल बादशाह हुमायूं के छोटे भाई अलवर के हाकिम मिर्जा शाह हिन्दाल ने कर-संग्रह हेतु मेवात प्रान्त के शासकों पर चढ़ाई की। मेवातियों को दण्ड देता हुआ वह अमसरसर तक आ पहुँचा। राव रायमल ने उसका मुकाबला किया। कछवाहों ने बड़ी वीरता से यह युद्ध लड़ा। आमेर के राजा पूरणमल पृथ्वीराजोत भी रायमल की सहायता पर आये और इसी युद्ध में सं. 1590 वि. की माघ सुदी पंचमी को काम आये। बीठू सूजा-रचित ''राव जइतसी-रो छन्द'' में जो इस युद्ध के तीन वर्ष बाद ही रचा गया था। इस आक्रमण के प्रसंग में इस प्रकार वर्णन मिलता है –

अलवरी सेन चढ़िया अथाह,
सोवन्न लूटि बंधिया साह।
लागुअे गमिय मेवात लोप,
कछवाहाँ साम्हउ कियउ कोप।।
आमेरि धणी आहवि अचल्ल,
मुगले मारि पूरणमल्ल।
सेखाउत कहता सारि सण्ड,
दलिया खड़ग्ग हेक लिया दण्ड।।
(छन्द संख्या 137 और 138)

कवि कहता है-''अलवर से बलवती सेना चढ़ी, अनेक राजा और नवाबों को लूटा और बन्दी बनाया। मेवात को नष्ट-भ्रष्ट करके मुगलों ने कछवाहों की धरती पर आक्रमण किया। युद्ध में अचल (वीर) आमेर का स्वामी पूरणमल मुगलों से लड़कर मारा गया। तलवार के धनी कहे जाने वाले शेखावतों का तलवारों से बल तोड़कर दण्ड लिया।'' इससे विदित होता है कि कछवाहों का अपरिमित रक्त बहाकर भी युद्ध में रायमल विजयी नहीं हुए। उन्होंने द्रव्य देकर आक्रमणकारी से मुक्ति पाई थी।

मेड़ता का राव वीरमदेव मेड़तिया अपने समय का महान् योद्धा और बड़ा राजपूत था। उसने मुसलमानों को निकाल कर अजमेर पर भी अधिकार कर लिया था। जोधपुर के राव मालदेव को वीरमदेव के बढ़ते हुए प्रताप और यश से ईर्ष्या थी। उसने जैता, कूंपा आदि अपने प्रमुख राजपूतों को ससैन्य भेजकर वीरमदेव से अजमेर और मेड़ता दोनों छीन लिये। वीरम शान्त बैठने वाला नहीं था। उसने डीडवाना पर जा अधिकार किया। किन्तु मालदेव की सेना ने उसका वहाँ भी पीछा किया और उसे डीडवाना से भी निकाल दिया। सब ओर हताश वीरमदेव अन्त में रायमल शेखावत के पास अमरसर गया। रायमल ने वीरम का बड़ा आदर-सत्कार किया। मालदेव की कृपा अथवा उसके क्रोध की परवाह किये बिना उसने बारह महीनों तक वीरमदेव को अपने यहाँ आराम से रखा।

(नैणसी की ख्याप्त, भाग 2, पृ. 157; आसोपा-कृत मारवाड़ का इतिहास, पृ. 23, 25)

जब तक वीरमदेव अमरसर रहा, राव मालदेव ने उसे वहाँ से निकालने के लिये न तो सैन्य-बल प्रयोग किया और न राव रायमल पर ऐसा करने के लिये प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दबाव ही डाला। इस घटना से रायमल के महत्त्व और उनकी सुदृढ़ राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का अच्छा बोध होता है।

राव रायमल ने अमरसर राज्य का विस्तार अपने पिता के समय से भी अधिक किया। परिवर्तित परिस्थितियों का लाभ उठा कर उन्होंने नरेणा तथा साँभर प्रान्त के कुछ भाग पर भी अधिकार कर लिया। आमेर के राजा रतनसिंह के समय की अव्यवस्था और गड़बड़ी में उन्होंने आमेर राज्य के कुछ गाँवों पर अधिकार कर लिया था। कहा जाता है कि उस समय 555 गाँवों पर राव रायमल की दुहाई फिरती थी।

इच्छा की शक्ति

– आचार्य महाप्रज्ञ

इच्छा प्राणी का अकाट्य लक्षण हो सकता है। कम्प्यूटर और कुछ कर सकता है, इच्छा नहीं कर सकता। इच्छा वाणी का गहनतम लक्षण है। यह एक ऐसी विभाजक रेखा है जो केवल प्राणी में ही होती है, अप्राणी में नहीं होती। सोचना मस्तिष्क का काम है। कम्प्यूटर भी एक प्रकार का मस्तिष्क ही है। वह मनुष्य के द्वारा बनाया गया है। मनुष्य के शरीर में रहने वाला कम्प्यूटर (मस्तिष्क) प्रकृति-प्रदत्त है। श्वास भी शरीर में होने वाली प्रक्रिया है। श्वास का केन्द्र शरीर में है। इच्छा शरीर के साथ चलने वाला तंत्र नहीं है। बहुत गहरे में जाने पर उसका पता चलता है। यह भावना-जगत् में होने वाला एक आश्चर्य है। यह एक ऐसा दरवाजा है जो सूक्ष्म शरीर से आता है और स्थूल शरीर में खुलता है। इसी ग्रन्थि के आधार पर आकांक्षा और इच्छा पैदा होती है और उस इच्छा के आधार पर सारे कार्य चलते हैं।

मन चंचल होता है इच्छा के द्वारा। इच्छा होती है अर्न्तमन में, गहरे सूक्ष्म जगत् में और मन बेचारा चंचल हो जाता है। वह चक्कर काटने लग जाता है। हम पकड़ना चाहते हैं मन को। वह हाथ में कैसे आएगा? मन का पंखा चल रहा है। हम उसे बंद करना चाहते हैं, पर स्विच ऑफ करना नहीं चाहते। जिस प्रेरणा से मन का पंखा गतिशील हो रहा है, उस प्रेरणा को रोकना नहीं चाहते। पंखा चलता है बिजली के प्रवाह से। स्विच ऑन करते ही बिजली प्रवाहित होने लग जाती है। उसको रोके बिना पंखा नहीं रुक सकता। ताड़ियाँ स्वत: नहीं चलतीं। वे चलती हैं पीछे की प्रेरणा से। जब तक वह प्रेरणा रहेगी, पंखा चलता ही रहेगा। हम कह देते हैं-पंखा धूर्त है, चंचल है, बंद नहीं होता। कैसे होगा बंद?

मन का पंखा तब बंद होगा जब उसको गति देने वाली प्रेरणा को रोक देंगे। वह प्रेरणा है-इच्छा। इच्छा का वेग मन को वेग दे रहा है। इच्छा की विद्युत के आवेग आते हैं, उसकी तरंगें आती हैं और मन बेचारा घूमने लग जाता है। इच्छा दिखाई नहीं देती। वह विद्युत का आवेग दिखाई नहीं देता। ताड़ियाँ दिखाई देती हैं। आदमी उन्हीं के साथ लड़ने लग जाता है। परिणाम कुछ भी नहीं आता। आदमी दस वर्ष, पचास वर्ष या सौ वर्ष भी लड़ता चला जाए, कोई परिणाम नहीं आएगा। वह लड़ाई तब बंद होती है जब इच्छा को पकड़ लिया जाता है। इच्छा है तो प्रमाद भी होगा, कषाय भी होगा, योग और चंचलता भी होगी। हम चंचलता को नहीं मिटा सकते। हम क्रोध आदि आवेशों को, कषाय और प्रमाद को नहीं मिटा सकते, जब तक हम क्रोध की उत्पत्ति की मूल प्रेरणा को नहीं पकड़ लेते। इसलिए इच्छा पर अनुशासन करना बहुत जरूरी है।

एक छोटा बच्चा बदमाशी कर रहा था। वह किसी के कपड़े किसी की पुस्तकें और किसी के रूमाल फेंक रहा था। दूसरे ने कहा-'बच्चे! ऐसा क्यों कर रहे हो?' उसने तपाक से उत्तर दिया-'मेरी अपनी इच्छा है। तुम कौन होते हो कहने वाले।?'

सारी दुनिया में इससे बड़ा कोई उत्तर नहीं हो सकता।

मेरी इच्छा-यह सबसे बड़ा उत्तर है। इसके सामने सब अनुत्तर हैं। परन्तु मनुष्य ने यह भी अनुभव किया कि इच्छा शाश्वत नहीं, देशातीत और कालातीत नहीं है। हर स्थान पर, हर बार इच्छा को चलाया नहीं जा सकता। इस अनुभव के परिणामस्वरूप इच्छा पर अनुशासन करने की बात प्राप्त हुई। उसने सोचा-जो भी इच्छा जागे, जो भी तरंग उठे, जो भी विकल्प उत्पन्न हो, उसे सर्वत्र लागू नहीं किया जा सकता। उस पर नियंत्रण होना चाहिए, अनुशासन होना चाहिए। इसके आधार पर समाज ने एक सूत्र दिया-इच्छा-परिष्कृत, इच्छा का परिष्कार करना चाहिए। इच्छाएँ अपरिष्कृत होती हैं। यदि इच्छा के अनुसार आदमी चलता चले तो हमारा यह सभ्य समाज आदिवासियों का समाज बनकर रह जाएगा।

व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ जाग सकती हैं। यदि वह सब इच्छाओं को क्रियान्वित करता है तो समाज में कोई जी नहीं सकता। मन में मारने की इच्छा जागती है, दूसरे के घर पर कब्जा करने की इच्छा जागती है और वह धन लूटता है, दूसरे के घर पर कब्जा करता है। पूछने पर उसका उत्तर होता है-मेरी इच्छा हुई और मैंने वैसा

कर डाला। कौन है मुझे रोकने वाला, कहने वाला? इस स्थिति में न्याय की सारी व्यवस्थाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। इसीलिए समाज ने इच्छा-परिष्कार का सूत्र दिया। इच्छा का परिष्कार या शोधन होना चाहिए। इच्छा वही मान्य हो सकती है जो दूसरों की इच्छा में बाधक न बने, दूसरों को क्षति न पहुँचाए, बाधा न पहुँचाए। इच्छा के परिष्कार के बिना सभ्य समाज का निर्माण नहीं हो सकता।

कभी-कभी परिष्कृत इच्छाएँ भी बहुत खतरा पैदा कर देती हैं। समाज उनको मान्य कर लेता है, पर वह उन खतरों से बच नहीं सकता। समाज द्वारा यह मान्य है कि पति-पत्नी का संगम हो सकता है। यह व्यक्ति की परिष्कृत इच्छा का नियमन है। किन्तु आदमी यदि इसको सर्व सामान्य बनाकर इच्छापूर्ति करता चला जाए तो वह वासना के भंवर में गिरकर अनेक रोगों का शिकार हो सकता है। उसकी सारी कार्यजाशक्ति नष्ट हो सकती है।

इच्छा का भी परिष्कार होना चाहिए। परिष्कृत इच्छा के लिये भी संयम और अनुशासन आवश्यक होता है।

आयुर्वेद में एक सिद्धान्त के तीन अवयवों की चर्चा है। वे तीन अवयव हैं-योग, अयोग और अतियोग। अयोग हो तो कोई बात पनपती ही नहीं। किसी व्यक्ति को शिक्षा का अयोग हो तो वह नितान्त मूर्ख ही बना रहेगा। अतियाग भी हानिकारक होता है। कोई व्यक्ति रात-दिन पढता ही रहे तो शक्ति-शून्यता आ जाएगी। वह कुछ भी नहीं कर पाता। न अयोग हो और न अतियोग हो, किन्तु योग होना चाहिए। दिन में 2-4 घंटे पढ़ा, विश्राम किया, फिर पढ़ा, फिर विश्राम किया। यह है इच्छा पर अनुशासन। योग का अर्थ है-परिष्कृत इच्छा पर नियंत्रण, संयम।

हमारे शरीर में इच्छा और भावना के सभी केन्द्र हैं। प्रत्येक वृत्ति का केन्द्र हमारे शरीर में है। झगड़ालू वृत्ति का केन्द्र है तो क्षमा का भी केन्द्र है। वासना का केन्द्र है तो वासना-विजय का भी केन्द्र है। अशान्ति का केन्द्र है तो परम शान्ति या निर्वाण का भी केन्द्र है। शरीर इन सब केन्द्रों से भरा पड़ा है। केवल प्रक्रिया को जानने की जरूरत है कि कौन-सा बटन दबाने से कौन-सा केन्द्र सक्रिय होता है।

जब चेतना ऊपर सक्रिय होगी तो ऊपर के केन्द्र जाग जाएंगे और नीचे के केन्द्र सो जाएंगे। जब चेतना नीचे सक्रिय होगी तो नीचे के केन्द्र जाग जाएंगे और ऊपर के केन्द्र सो जाएंगे। जब चेतना ऊपर सक्रिय होगी तो इच्छा-केन्द्र पर अनुशासन स्थापित हो जाएगा। सबसे बड़ी बात है-नियंत्रण के केन्द्रों का बोध होना।

शरीर में अनगिन नियंत्रण-केन्द्र हैं। मस्तिष्क सबका नियामक है। नाड़ी-संस्थान, रीढ़ की हड्डी, सुषुम्ना आदि भी नियंत्रण-केन्द्र हैं। जिस व्यक्ति ने सुषुम्ना में चित्त की यात्रा करना समझ लिया, मस्तिष्क में यात्रा करना जान लिया या शरीर के आगे-पीछे, दाएं-बाएं और ऊपर में यात्रा करना समझ लिया, उसने बहुत रहस्य समझ लिये। एक नियंत्रण-केन्द्र शरीर के ऊपर के भाग में है, एक पीछे के भाग में है, दाएं-बाएं हैं, मध्य में है। हम इन पाँच स्थानों पर शरीर को पारदर्शी बना सकते हैं। हमारा पूरा चुम्बकीय क्षेत्र है। वह इन पाँच भागों में अधिक चुम्बकीय बन सकता है। जब वह पूरा चुम्बकीय बन जाता है तब अतीन्द्रिय चेतना पैदा होती है-अवधिज्ञान पैदा होता है।

इच्छाओं पर अनुशासन करने के लिये जरूरी है नियंत्रण-केन्द्रों को समझना। इच्छा भीतर से आती है। प्राणशक्ति के साथ काम करती है। यदि प्राणशक्ति का सहारा न मिले तो इच्छा भीतर उत्पन्न होगी पर बाहर में आकर निष्क्रिय बन जाएगी। भीतर से कोई भी आता है और यदि उसे कोई सहयोग नहीं मिलता है तो वह निकम्मा बन जाता है। बड़े से बड़े व्यक्ति को भी यदि स्थानीय जनता का सहयोग प्राप्त नहीं होता है तो वह आदमी निकम्मा बन जाता है, वह कुछ भी नहीं कर सकता। प्राणशक्ति का सहयोग अपेक्षित होता है।

सिर से भी काम नहीं चलता, पैर से भी काम नहीं चलता, यदि प्राण न हो तो। प्राण हो तो सिर भी काम का होता है और पैर भी काम के होते हैं। मुर्दे का सिर भी काम का नहीं होता और पैर भी काम के नहीं होते। प्राण के साथ ही वे काम के होते हैं। जब प्राण की शक्ति मिलती है, तब इच्छा अपना काम करने लग जाती है। हम प्राण-शक्ति को ऐसे नियंत्रण केन्द्रों में संयोजित करें जिनसे हमारे ऊपरी भाग के केन्द्र जागृत हों और इच्छा पैदा करने वाला केन्द्र सो जाए, निष्क्रिय बन जाए। ऐसा होने पर इच्छा आएगी, विलीन हो जाएगी। फिर आएगी, फिर विलीन हो जाएगी। यह एक प्रक्रिया है इच्छा पर अनुशासन करने की।

विचार-सरिता

(सप्तपञ्चाशत् लहरी)

– विचारक

हर प्राणी के भीतर जो चेतन शक्ति है वही उसकी आत्मा है। उस चेतनाशक्ति के कारण ही उस शरीर में क्रिया व प्राणों का संचालन तथा मन व इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का ज्ञान करती रहती हैं। इस शरीर में जो सत्यता, सुन्दरता, आकर्षण व प्रियता, मोदता आदि है वह उस चेतनशक्ति के कारण ही है। जिस प्रकार एक बागवान के बगीचे में जो हरितिमा प्रतीत हो रही है, उन पेड़ पौधों में पल्लव पुष्प खिल रहे हैं, कहीं फलों से लदी हुई डालियाँ हमको आकर्षित कर रही हैं, उस सबका कारण एकमात्र जल है। यदि उस बगीचे को पानी का सिंचन बंद कर दिया जाए तो वह मुर्झा कर शीघ्र ही सूख जाएगा। ठीक इसी प्रकार हमारे इस जड़ीभूत देह में भी जब तक आत्मा की शक्ति विद्यमान है तभी तक यह हरा-भरा व सुन्दर तथा मंगलमय प्रतीत होता है। ज्यों ही इसमें स्पन्दन होने वाले प्राण सुषुप्त हो जाते हैं त्यों ही इस देह को अमंगल घोषित कर दिया जाता है। देह वही है, आकार और वजन में कोई कमी नहीं आई है पर अब वह निष्चेष्ट हो गया है और यदि उस देह को कोई छू भी लेता है तो वह अपने आपको अपवित्र मानकर शुद्धिकरण हेतु स्नान, चन्दन व गंगाजल या ठाकुरजी का चरणोदक लेकर फिर घर में प्रवेश करता है।

वह चेतनशक्ति जो जीवात्मा के नाम से जानी जाती है वही चिदाभास जो मन व बुद्धि सहित है उसके अभाव को हम मरण का नाम दे देते हैं पर असल में वहाँ मरा कुछ भी नहीं है केवल बुद्धि के संकल्प का अन्त और नवीन संकल्प का परिणाम मात्र है। अब वही बुद्धि सहित चिदाभास (चेतन का आभास) कर्माधीन होकर पाप पुण्य का फल भोगने हेतु नवीन शरीर में प्रवेश कर लेता है पर मरता कुछ भी नहीं है। आत्मा शाश्वत व अमर है, केवल मुखौटे बदलते हैं अर्थात् शरीर बदलते हैं। यह चेतनशक्ति ही आत्मा है, यही ब्रह्म है, यही ईश्वर व परमात्मा है। यह आत्मा शक्तिस्वरूपा होते हुए भी इतना सूक्ष्म है कि इसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। हमारे चित्त में वासनाओं का जखीरा जमा हुआ पड़ा है अत: विभिन्न प्रकार की विचार तरंगें उठती रहती हैं। जिस प्रकार समुद्र में उठने वाली तरंगों के परिणाम स्वरूप उस अथाह जलराशि में हम अपने चेहरे के प्रतिम्बिब को नहीं देख सकते। उसी प्रकार चित्त में उठने वाली वासनाओं की तरंगों के परिणामस्वरूप आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करने में असमर्थ रह जाते हैं।

वासना क्षय युक्त चित्त में स्थिरता रहती है और जिस चित्त में किसी प्रकार की कोई कामना नहीं है तो वहाँ आत्मा का प्रतिबिम्ब बन जाया करता है। पतञ्जली ने योगदर्शन में लिखा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध ही आत्मा का अनुभव है। इसलिये योगीजन आत्मज्ञान के लिये वृत्तियों का निरोध करते हैं। यह निरोध साधना की एक अवस्था है। यह जब तक सिद्ध नहीं होती है तब तक मुक्ति या मोक्ष जैसी स्थिति की बात करना भी बेईमानी ही होगी। चित्त का निरोध तभी किया जाता है जब चित्त में विक्षेप दिखाई दे किन्तु जिस पुरुष को आत्मज्ञान हो चुका है अर्थात् जिसका चित्त शान्त एवं विक्षेप रहित हो गया है, तथा जिसके चित्त का ही अभाव हो गया है वह भला क्या करे। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान की स्थिति में केवल आत्मा ही शेष रहती है। चित्त, मन, बुद्धि, शरीर, संसार आदि के भावों का ही अभाव हो जाता है।

जब तक चित्त है तब तक उसके निरोध की बात है। जहाँ चित्त है वहाँ साधक, साधन और साध्य तीनों रहते हैं पर जब ज्ञानी को आत्मबोध हो जाता है तो वहाँ साधना व्यर्थ हो जाती है। ज्ञानी के लिये महापुरुषों ने कहा है कि जो संसार के कार्य व्यवहार को करते हुए भी संसार से भिन्न व अकर्ता है, वह धीर पुरुष न अपनी समाधि को, न विक्षेप को और न बन्धन को ही देखता है। वह तो केवल ब्रह्मभाव से सर्वत्र अपने आपको ही देखता है।

ज्ञानी और अज्ञानी में बाहर कोई अन्तर नहीं दिखाई देता किन्तु भीतर के तल पर बड़ा अन्तर होता है। अज्ञानी

के अन्त:करण पर संसार रचा हुआ है। परिणाम-स्वरूप अज्ञानी के कार्य मन, बुद्धि, अहंकार एवं वासना-तृप्ति के लिये ही होते हैं। वह शरीर-पोषण व इन्द्रियजन्य विषयों में ही संलग्न रहता है तथा इनकी पूर्ति ही जीवन का उद्देश्य समझता है। ज्ञानी भी व्यवहार काल में खाता-पीता है तथा अज्ञानियों की तरह सब दैनिक व्यवहार करता हुआ प्रतीत होता है किन्तु वह भीतर में जगा हुआ रहता है। देह व देह-प्रपञ्च के सभी कार्य व्यवहारों का वह द्रष्टा बनकर रहता है। अपरा प्रकृति में जो कुछ हो रहा है, उस सबका वह द्रष्टा व साक्षी बनकर जगा हुआ रहता है। आत्मज्ञान में स्थिति पाने के उपरान्त भी कबीरजी जुलाहा का कार्य करते रहे, रैदासजी जूते सीते रहे, सेन नाई बाल काटता रहा, सजनकसाई ने अपना कार्य नहीं छोड़ा। ज्ञानी और अज्ञानी के बाह्य कर्मों में कोई अन्तर नहीं होता। बस अन्तर है तो इतना ही है कि अज्ञानी अपने कर्तृत्व अहंकार के कारण अपने आपको कर्ता मानता है और ज्ञानीजन कर्म करते हुए भी अपने आपको कर्ता न मानकर यही मानते हैं कि प्रकृति ही प्रकृति में बरत रही है। मैं तो इस व्यवहार से उदासीन व इसका द्रष्टा मात्र हूँ।

अज्ञानी भीतर में सोया हुआ है और ज्ञानी भीतर में जगा हुआ है। इसलिए आत्मज्ञानी संसारियों की तरह बरतता हुआ भी संसार से भिन्न है, निर्लेप है अत: वह सदैव निरबंधन व नित्यमुक्त अवस्था में रहता है। ज्ञानी पुरुष सदैव तृप्त है, भाव-अभाव से रहित है, वासना से रहित होने के कारण वह लोक-दृष्टि से कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है। अहंकार के वशीभूत होने के कारण ही हममें कर्तापन का भाव रहता है। जहाँ कर्तापन का अहंकार रहेगा वहाँ भोक्तापना भी रहेगा। सुख और दु:ख के हम कर्ता बनते हैं तो सुख-दुख के भोक्ता भी जरूर बनना पड़ेगा। वास्तव में हमारी आत्मा न तो कर्ता है और न भोक्ता ही है। चिदाभास सहित अन्त:करण ही कर्ता कहलाता है तथा अन्त:करण सहित चिदाभास ही भोक्ता बनता है। आत्मा इन सबसे निर्लेप व निष्कलंक है।

जिसका कोई अहंकार नहीं, जिसकी कोई वासना नहीं, जिसकी कोई फलाकांक्षा नहीं, कर्म करके भी कोई अपेक्षा नहीं रखता तथा जो भाव और अभाव की चिन्ता से रहित है, ऐसा व्यक्ति कर्ता नहीं हो सकता। इसलिए वह भोक्ता भी नहीं हो सकता। ऐसा ज्ञानी महापुरुष सांसारिक कर्म करता हुआ भी उनसे सदा निर्लिप्त रहता है क्योंकि उन कर्मों से प्राप्त फलों को वह क्षणिक एवं असत्य समझता है। ज्ञानी को जब शाश्वत सुख व आनंद की प्राप्ति हो गई है और वह अपने आत्मानंद में तृप्त है तो वह इन अनित्य भोगों के प्रति उदासीन हो जाता है। उदासीनता हमारा स्वभाव है। राग और द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता। यह तो बुद्धि की पकड़ है। बुद्धि में अपना-पराया, इष्ट-अनिष्ट, अच्छा-बुरा आदि की संज्ञा है। आत्मा सदैव इनसे उदासीन व अलिप्त है। प्रकृति के फल-भोगों को वह क्षणिक व अनित्य तथा असत्य समझता है। जब तक उसका प्रारब्धाधीन शरीर विद्यमान है तब तक वह कर्म तो करता है पर भीतर में अछूता रहता है इसलिए वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

धीर पुरुष प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में दुराग्रह नहीं रखता। वह जब कभी भी कुछ करने को आ पड़ता है तो उसको मर्यादापूर्वक पूर्ण करके सुखपूर्वक रहता है क्योंकि ज्ञानी पुरुष कर्तव्यादि अभिमान से रहित हो जाता है इसलिए उसका न प्रवृत्ति में आग्रह होता है और न निवृत्ति में। करने योग्य कर्म अर्थात् विधेय कर्म तथा न करने योग्य कर्म अर्थात् निषेध कर्म की परिभाषा ही जिसके हृदय में नहीं है उसके समस्त आग्रह व संकल्प समाप्त हो जाते हैं। वह अनाग्रहपूर्वक जो स्वाभाविक है, उसे कर लेता है। आग्रह और संकल्प, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ग्रहण और त्याग भी यदि अहंकारवश किये जाते हैं तो वे भी बन्धन के कारण होते हैं। स्वाभाविक रूप से करना ज्ञानी के लिये भी अपेक्षित कहा गया है।

डूबते हुए को बचाने का कार्य अज्ञानी तो इसलिए करता है कि उसके पीछे ख्याति की अभिलाषा है। बचाने वाले का फोटो अखबार में छपता है उसके उस कृत्य के लिये प्रशंसा के पुल बांधे जाते हैं तथा कई बार राष्ट्रपति से वह व्यक्ति पुरुषकृत भी हो जाता है, इसलिए वह

(शेष पृष्ठ 26 पर)

अन्त:करण

– संकलित

अन्त:करण वास्तव में दो शब्दों के योग से बना है- अन्त:+करण। अन्त: का अर्थ है आन्तरिक और करण का अर्थ है औजार या उपकरण या साधन। यह जीवात्मा जब एक कार्यकाल के लिये पृथ्वी लोक पर आती है तो उसको अपना जीवन सुचारू रूप से चलाने के लिये कुछ औजार साथ में दिए जाते हैं, उस परम सत्ता की तरफ से। जैसे देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इनमें देह और इन्द्रियाँ बाह्य उपकरण हैं और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आन्तरिक उपकरण हैं। जैसे किसी मशीन को नियमित तेल-ग्रीस से, साफ-सफाई से उपयोगी बनाया जाता है, उसी प्रकार इन उपकरणों को नियमित शुद्ध, पवित्र और कार्य योग्य बनाना बहुत जरूरी है। देह, इन्द्रियों को हम प्रतिदिन स्नान से, व्यायाम से तथा स्वास्थ्य खराब होने पर वैद्य या डॉक्टर की सहायता से स्वस्थ बनाते हैं। पूजा, उपासना के लिये मंदिरों में भी जाते हैं। पर यह सब करते हुए यदि हम पूरे भाव, विश्वास और श्रद्धा के साथ नहीं करते हैं तो यह केवल एक मशीन की तरह कार्य करना हुआ। इसमें न भौतिक और न ही आध्यात्मिक विकास होगा।

विचार करें कि इस अन्त:करण को कैसे शुद्ध और सच्चा करना है। अन्त:करण के चार भाग हैं,- मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। सबसे पहले मन पर विचार करते हैं।

मन– यह केवल विचारों का पुलिन्दा है। असंख्य विचार इसमें उठते रहते हैं। एक विचार के खत्म होते ही दूसरा विचार उठ जाता है और उसके विलीन होते ही फिर तीसरा विचार जाग जाता है। एक विचार और दूसरे विचार के बीच कुछ अन्तराल रहता है लेकिन हमें इसका पता नहीं चलता। इसकी गति इतनी तीव्र होती है कि यह एक पल में ही संपूर्ण ब्रह्माण्ड का चक्कर लगाकर वापिस आ जाता है और बदलता रहता है। कभी एक-सा नहीं रहता। कभी आलस्य-प्रमाद से भरा रहता है और कभी उत्साह-उत्तेजना से भरा रहता है। कभी खाली योजनाएँ ही बनाता रहता है, कभी एकाग्र भी हो जाता है। मन को शुद्ध करने के दो उपाय बताए गए हैं-अभ्यास और वैराग्य।

1. अभ्यास– मन अपना भोजन इन्द्रियों के द्वारा बाहर के विषयों से ग्रहण करता है और इसलिए वह बहिर्मुखी रहता है। जब सब ओर से मोड़कर इसे किसी एक केन्द्र बिन्दु पर टिकाने का अभ्यास किया जाता है तो यह अंतर्मुखी हो जाता है और एकाग्रता भी बढती है और फिर जब इसका अच्छा अभ्यास हो जाता है तो यह साधक का स्वभाव बन जाता है। योग केन्द्रों में ॐ ध्वनि पर या आसनों के दौरान किसी विशेष चक्र पर या प्राणायाम के दौरान श्वासों पर ध्यान केन्द्रित करने के लिये कहा जाता है तो इसमें स्वत: ही इसको अन्तर्मुखी करने का अभ्यास ही होता है।

2. वैराग्य– मन की बुद्धि का दूसरा उपाय वैराग्य है। वैराग्य का अर्थ राग से, मोह से विरक्ति का होना है। कुछ प्रकार के त्याग के अभ्यास से मन में स्वत: ही वैराग्य जाग जाता है, जो मन की शुद्धि के लिए अनिवार्य है। जैसे क्रोध का त्याग (शम), इन्द्रियों का दमन, फालतू विषयों से हटाना (दम), आलतू-फालतू कार्यों का त्याग (उपरति) जीवनशैली में अधिक सुख-सुविधाओं का त्याग (तितिक्षा), अहं का त्याग (श्रद्धा) और फालतू योजनाएँ बनाने में मन को उलझाने का त्याग (समाधान)। योग साधक सौभाग्यशाली है जो नित्य ही योग साधना में इसका अभ्यास स्वत: ही कर लेते हैं।

बुद्धि– अन्त:करण का दूसरा भाग है बुद्धि। परमात्मा ने हमें एक ऐसी दिव्य शक्ति प्रदान की है, जो हर विचार, हर कार्य के लिये निर्णय लेती है कि वह ठीक है या गलत या इस कार्य को कैसे करना है। लेकिन यह सही निर्णय तभी ले पाती है जब यह निष्पक्ष हो, राग से पीड़ित न हो क्योंकि जिसके साथ हमें प्रेम है, हमें उसके दोष नजर नहीं आते और जिसके साथ वैर हो, उसके गुण दिखाई नहीं देते। तो ऐसी हालत में हम उचित निर्णय नहीं ले सकते। बुद्धि

तभी कुशाग्र होती है यदि इसके द्वारा लिया गया निर्णय ही मानकर कार्य किया जाए। नहीं तो यह तिरस्कृत हो जाती है और धीरे-धीरे कार्य करना बन्द कर देती है। यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति होती है। इसलिए हमेशा सजगता के साथ बुद्धि का निर्णय ही अपनाना चाहिए।

चित्त– यह एक ऐसा सूक्ष्म स्थान है जहाँ पर हमारे सारे पूर्व के अनुभवों, अब तक के हमारे सारे सम्बन्धों की छाप और यही नहीं, पूर्व जन्म के भी अनुभव, इच्छाएँ आदि बीज रूप में पड़ी रहती हैं। इसे कारण शरीर भी कहते हैं। इन इच्छाओं और पुराने संचित कर्मों को भोगने के लिये जीवात्मा फिर-फिर देह का चोला पहन कर पृथ्वी लोक पर आती है। इस आवागमन से मुक्त होने का एक ही उपाय है कि चित्त को खाली किया जाए। जब ध्यान में बैठकर हम आते-जाते विचारों को साक्षी (द्रष्टा) बनकर देखते हैं और नियमित ध्यान में बैठने से फिर एक दिन निर्विचारता की स्थिति बन जाती है और एक दिन जब चित्त विचारों से खाली हो जाता है तो आत्मसूर्य स्वत: ही प्रकट हो जाता है। साधक को आत्म साक्षात्कार होता है।

अहंकार– अन्त:करण का चौथा अंग है-अहंकार। यह दो प्रकार का होता है। एक तो अपने कर्त्ता होने का अहम्। मैं कर्त्ता हूँ, मैं परिवार का पालन करता हूँ, यह साम्राज्य मेरा है। यह मैं-मैं का विचार साधक को पतन के गर्त में गिराता है। इसको हम ज्ञान की तरह खुराक दे-देकर खत्म कर सकते हैं कि मैं कुछ भी करने वाला नहीं हूँ, मैं कुछ भी नहीं कर सकता। उस परमसत्ता की चेतन शक्ति से ही सभी कार्य हो रहे हैं। वे इस देह में हैं तो मैं शिव हूँ, नहीं तो मैं शव हूँ। फिर मैं कर्त्ता कैसे बन गया? गुरु ग्रन्थ में आता है-

अहम का त्यागन, आत्म शृंगार,
तभी तो मैं पाऊं, अपने खसम का प्यार।

यदि सच में मुझे उस परम सत्ता से एकाकार होने की प्यास है और आवागमन से मुक्त होना है तो अहम् को मैं-मैं को छोड़कर तू ही तू करना होगा।

दूसरा अहंकार है-मैं हूँ। यह अन्त तक न मिटने वाला अहंकार है क्योंकि यदि देह नहीं है तो भी मैं हूँ। मन, बुद्धि-ये उपकरण मैंने धारण किए हैं, सौ मैं तो अजर-अमर शाश्वत हूँ। केवल साधना के द्वारा ध्यान में गहरे उतरकर इसे परम सत्ता में विलीन करना होता है। यही हमारे नर-तन मिलने का उद्देश्य है। जैसे बूंद समुद्र में मिलकर तदाकार हो जाती है, उसी प्रकार इस जीवात्मा रूपी बूंद को उस परमात्मा रूपी समुद्र में मिलकर एकाकार होना है।

यह सब पढने-सुनने में बड़ा कठिन लगता है। लेकिन साधक बन्धुओं! केवल अपने मन, वचन, कर्म के प्रति पूर्ण रूप से सजग रहकर, यह हर समय ध्यान रखकर कि मेरी कथनी, करनी और मेरी सोच एकरस है या नहीं, मैंने दुनिया के लिये अपने ऊपर सुन्दर व्यवहार का कोई मुखौटा तो लगाया नहीं है और मेरे अन्तर्मन में खोट तो नहीं है। बस धीरे-धीरे अन्त:करण शुद्ध होने लगता है और हमें पता ही नहीं चलता कि कब हमारा स्वभाव बन गया है, जिससे हमारी आध्यात्मिक प्रगति तीव्र होती है और हम अपनी मंजिल की ओर बढने लगते हैं।

पृष्ठ 24 का शेष

विचार-सरिता

अपनी जान खतरे में डालकर यह जोखिम भरा कार्य करता है। लेकिन यदि ज्ञानी के सामने भी ऐसी परिस्थिति उपस्थित होती है तो वह इसे अपना कर्तव्य समझकर उस डूबने वाले को बचाता है। बचाने के बाद वह दूसरों द्वारा दिए गए धन्यवाद व प्रशंसा से अपने को दूर रखता है। ज्ञानी को किसी भी ख्याति की अभिलाषा नहीं है। प्रशंसा के बोल उसके लिये चुभते हुए कांटे हैं। अहंकार रहित एवं स्वाभाविक रूप से फलाकांक्षारहित होकर किया गया कर्म ही मुक्त करता है जो स्वभाव से होता है। इस प्रकार जो ज्ञानीजन वासनारहित, निरहंकारी, आलम्बनरहित, स्वच्छन्द और बन्धन रहित हो चुके हैं और प्रारब्धरूपी वायु से प्रेरित होकर शुष्क-पत्र की भाँति परोपकार हेतु व्यवहार करते हैं उन मनीषियों के चरणों में मेरा श्रद्धावत् हार्दिक प्रणाम! **ओम् नम: शिवाय!**

परदे से परित्राण

– सविता कोटवाद

वर्ष 2020 संपूर्ण मानव जाति के लिये चुनौतियाँ और संघर्ष लेकर आया है। किन्तु इस वर्ष से पहले 2019 ने जाते-जाते मुझे कुछ अच्छे अनुभव दिये। इस वर्ष में दो ऐसी शादियाँ देखने को मिली जो समाज को सन्देश दे या न दे पर मुझे सोचने पर विवश कर गई। एक शादी जिसमें दुल्हा और दुल्हन दोनों चिकित्सक। मैं वधू पक्ष से शामिल हुई। वधू को ससुर जी ने विवाह के उपहारस्वरूप गाड़ी भेंट की। दूसरी शादी मेरे विद्यालय के एक शिक्षक महोदय के पुत्र की, जो नौकरीशुदा और वधू अध्ययनरत। उन्होंने भी अपनी बहू को उपहारस्वरूप गाड़ी भेंट की। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये शादियाँ किस समाज की है। ऐसा नहीं है कि इस समाज के सभी लोग अपनी बहुओं को गाड़ियाँ देते हैं और ना ही मेरा यह उद्देश्य है कि हमारे समाज में ऐसी कोई परम्परा चलाई जाए। मेरी लेखनी तो उस विचार की ओर संकेत कर रही है जो मैंने उन दोनों शादियों में इस भेंट को घटनाक्रम में दर्शक बनकर और ताली बजाकर प्रशंसा करते समय अनुभव किया। इस रीति की अपने समाज में अनुकरणीयता का तो मैं अपने मन में विचार भी नहीं ला सकती। इसका कारण भी मैं स्पष्ट करूंगी पर स्पष्टीकरण की तह तक जाने से पहले मेरे विद्वान पाठकजनों से मेरा एक प्रश्न है। वर्तमान में कोविड-19 से बचाव के लिये हम मास्क लगा रहे हैं। कुछ समय ऐसा ही चलेगा, फिर जब यह संक्रमण समाप्त हो जायेगा और परिस्थितियाँ पुन: सामान्य हो जायेंगी, उसके बाद भी हम लगातार कई पीढ़ियों तक इस मास्क को लगाते रहें और दलील दें कि यह तो हमारी संस्कृति का हिस्सा है, तो कैसा हो? आपको मेरा यह प्रश्न हास्यास्पद लगेगा कि ऐसा भी कभी होता है क्या? मास्क हमारी संस्कृति का हिस्सा कैसे हो सकता है? यह तो हमने परिस्थितिवश मजबूरी में धारण किया है।

किन्तु ऐसा हुआ है। आप समझ गए होंगे कि मेरा संकेत किस ओर है? जी, मैं उसी घूंघट की बात कर रही हूँ जिसे मजबूरी में हमने ओढ़ा और आज इसे संस्कृति का नाम देकर शाश्वत बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

तकनीक और सम्प्रेषण क्रान्ति के इस युग में सम्पर्क आसान हो गया है। इसी कड़ी में मैं भी एक ऐसे ग्रुप से जुड़ी जिसमें लगभग 70 शिक्षित राजपूत महिलाएँ शामिल हैं। मैंने उनसे इस विषय पर विमर्श किया और जो निष्कर्ष निकला उससे शायद आप सब भी अनभिज्ञ नहीं होंगे किन्तु आँख और कान बंद करना अधिक पसंद करते हैं। उक्त मंथन में 3 प्रकार के परिवार सामने आये।

प्रथम वो जिन्होंने अपनी बहुओं को परदा करने अथवा न करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी है, किन्तु.....जब गाँव अथवा किसी समारोह में जाएँ तो बड़े बूढ़ों का मान रखने के लिये कुछ घण्टों के लिये इसे श्रृंगार समझ धारण कर लेवें। इन परिवारों की महिलाओं का मानना है कि काफी हद तक घूंघट हमारे समाज से हट गया है और उन सम्माननीय बड़े बूढ़ों की पीढ़ी समाप्त होते ही बाकी का आडम्बर भी समाप्त हो जायेगा। तब तक इतनी सी बात मानने में क्या हर्ज है?

दूसरी श्रेणी में वो परिवार हैं जिनकी बहुएँ अपने पति व बच्चों के साथ अलग रह रही हैं और कभी-कभी ही ससुराल जाना पसंद करती हैं क्योंकि एक लम्बे समय तक परदे के पीछे रहकर वो समझ गई कि इसका अन्त नहीं और सास ससुर का सम्मान करते हुए भी उन्हें छोड़कर अलग शहर में रहना उनकी मजबूरी हो गई। अपेक्षा होती है कि वो ससुराल को अपना घर माने और सास-ससुर को माता-पिता लेकिन क्या वो परिवार उसे बेटी के रूप में अपना सकता है? परदे से शुरू हुई यह कहानी यहाँ तक रुकती थोड़े ही है उससे आगे चलता है-ससुर जी के घर में उपस्थित रहने पर न बोलना अथवा फुसफुसाकर बोलना, वरिष्ठ महिला सदस्य जो घर में हर

समय विद्यमान हों उनके समक्ष नीचे ही बैठना, एकान्त में खाना खाना जैसे कई ऐसे नियम हैं जो सिर्फ उसके लक्ष्मी होने के सम्मान में उसे ससुराल आते ही भेंट किए जाते हैं। ये सब उन्हें हर क्षण बेटी नहीं बहू होने का एहसास करवाते थे तो वह अपने ससुराल को अपना परिवार नहीं मान पाई और घुटन का एहसास होने पर पति के साथ सास-ससुर से अलग, बच्चों की पढ़ाई या किसी और बहाने से शहर में रहने के लिये आ गई। उनका मानना है कि वो तो इस घूंघट को पढ़ लिखकर भी नहीं हटा पाई किन्तु जब वो सास बनेगी तब इसे जरूर हटवा देंगी।

तीसरी श्रेणी उन महिलाओं की है जो आज भी इस घूंघट को हर दिन, हर क्षण जीती हैं। विरोध का साहस नहीं है अत: सब स्वीकार्य है किन्तु इस ग्रुप पर हुए विमर्श में सर्वाधिक क्रोध और घुटन उनसे ही बाहर निकल कर आयी। शिक्षित होने के बावजूद उनकी तार्किक और बौद्धिक क्षमता से किसी को कोई सारोकार नहीं। यदि कुछ अपेक्षित है तो वो है मात्र-सहनशक्ति। जो लॉक डाउन में कसौटी बन गई थी। घर के सभी वरिष्ठ जन पूरे दिन घर पर थे जिससे न वो कुछ देर भी घूंघट ऊपर कर पातीं, न जोर से खुलकर बोल अथवा हँस पाती, ना बच्चों को गलतियों पर डाँट पाती..... आदि आदि। खैर ये सूची लम्बी है, सार बस यही था कि वो घुटन महसूस कर रही हैं, पर कह नहीं सकतीं।

विमर्श के इस निष्कर्ष के बाद मैं अपने मूल बिन्दु पर आती हूँ, जहाँ से लेखन प्रारम्भ किया था हम अपने समाज को आगे ले जाने की, समय के साथ लाने की बात करते हैं, सुधार की बातें करते हैं।

क्या इन 3 श्रेणियों वाले परिवारों से बना समाज मेरे पूर्वोक्त उदाहरण की शादियों वाले समाज तक जाने की सोच सकता है? और सोचेगा तो भी कितनी पीढ़ियों बाद? अभी तो हम इस विषय पर विचार ही नहीं करना चाहते कार्यरूप तो जाने कब हो?

ऐसा क्यूँ हो कि घर की बहू परिवार के वरिष्ठ सदस्यों और पुरुषों के घर से बाहर जाने की प्रतीक्षा करे कि वो जाएँ तो मैं थोड़ा घूंघट ऊपर करूँ। ऐसा क्यूँ हो कि बहू परिवार से अलग जाने का सोचे सिर्फ इन कालातीत नियमों से बचने के लिये। ऐसा क्यूँ हो कि परिवार से बाहर रहने वाली बहुओं को किसी कारणवश परिवार में आना हो तो वो आने से पहले जाने का सोचे।

इस सोच की जिम्मेदारी वर्तमान शिक्षा या लड़कियों पर डालना समस्या की मूल तह तक न जाने की हमारी मानसिकता की ओर संकेत करता है। अपवाद हो सकते हैं किन्तु बाहुल्य को मत नकारिए। उस पर स्वयं से खुलकर विवाद कीजिए। आपकी बहू शिक्षित है तो क्या आदरणीय ससुर जी पिता की तरह उससे समकालीन राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम पर चर्चा कर सकते हैं? सम्भव है उसके पास भी अपने विषय की अच्छी जानकारी हो और यदि आप उससे इस प्रकार विमर्श करते हैं अथवा परिवार के अहम् मुद्दों पर उससे राय माँगते हैं तो वह स्वयं भी गौरवान्वित महसूस करेगी और उनकी संतान भी अपनी माँ को विदूषी समझ उनका सम्मान करेंगी। मेरा मानना है कि ऐसे वातावरण में परिवार टूटने की अपेक्षा सहयोग और सम्मान की भावना से भरकर ज्यादा जुड़ाव व स्नेह अनुभव करेंगे।

घूंघट सम्मान का प्रतीक तो नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक घूंघट पुरुषों के लिये भी होता जब वे अपने सास ससुर के सामने जाते, किन्तु ऐसा नहीं है। और ऐसा भी नहीं है कि इसको ओढ़ते ही सामने वाले के अपमान की कोई गुंजाइश नहीं रहती। सुधि पाठक जनों से क्षमायाचना के साथ यह उदाहरण लिख रही हूँ। मेरे विद्यालय की सफाई कर्मचारी भी घूंघट निकाल कर रखती है, वो भी इतना कि किसी महिला कार्मिक ने भी उसका चेहरा नहीं देखा, परन्तु जब वो अपने क्रोध की अभिव्यक्ति करती है तो उसके अत्यन्त निम्न स्तरीय सम्बोधनों और वाक्यों को सुनकर किसी भी सज्जन महिला अथवा पुरुष का खड़ा रह पाना दुष्कर हो जाता है। अत: घूंघट और सम्मान का कोई सहसम्बन्ध नहीं दिखाई देता।

(शेष पृष्ठ 31 पर)

शहादत का बादशाह ठा. केशरसिंह बैंस

– गोपालसिंह राठौड़

सन् 1759 में महान योद्धा महादजी सिंधिया शक्तिशाली बनकर उभरे एवं दिल्ली के शासक शाहआलम के सहयोगी बने। उस समय अवध क्षेत्र में वहाँ की बेगमों को परेशान करने एवं काशी के राजा चेतसिंह का अंग्रेजों द्वारा कत्ल करवा देने पर दिल्ली के बादशाह ने अंग्रेजों के विरुद्ध महादजी सिंधिया के साथ मुगल सेना उस क्षेत्र में भेजी। सन् 1764 में बक्सर जो गंगा के कछार में रायबरेली और उन्नाव जिलों की वर्तमान सीमा पर स्थित है और ऐतिहासिक महत्व के लिये प्रसिद्ध है। शाही सेना का अंग्रेजों से युद्ध हुआ जिसमें शाही सेना की हार हुई। तब महादजी सिंधिया शाही लश्कर लेकर वापस आगरा आए। इस लश्कर के साथ बक्सर क्षेत्र के ठाकुर एवं मुसलमान सैनिक भी थे जिनके प्रमुख डोडिया खेड़ा जिला उन्नाव, उ.प्र. के राणा रघुनाथसिंह बैंस थे। बक्सर के इस लश्कर को आगरा में स्थापित किया।

बाद में दौलतराव सिंधिया द्वारा सहायक प्रथा संधि पर हस्ताक्षर करने से आगरा, मथुरा और भड़ोच का इलाका अंग्रेजों को दे दिया तब सिंधिया की सेना आगरा से ग्वालियर पहुँची। जब अंग्रेजों ने सिंधिया को फौज कम करने को कहा तब सिंधिया ने अंग्रेजों की छावनियों के पास अपने ''रिसाले'' कायम किए और आर्मी को ''डिसबैंड'' कर इन छावनियों या रिसालों में तैनात किया। बक्सर के लश्कर को जिसके प्रमुख राणा रघुनाथसिंह बैंस थे उनकी इस अवधि में मृत्यु होने पर उनके पुत्र राणा लालसिंह बैंस को रिसाले के उत्तराधिकारी के रूप में नवाजा गया और उनके नेतृत्व में सन् 1791 में यह रिसाला, गुना, आगरा होते हुए नीमच पहुँचा। सैनिकों का यह बेड़ा अपने आप में पूर्ण था जिसमें ठाकुरों में बैंस, परिहार, सेंगर, चंदेल, रैकवार, चौहान, गहलोत एवं मुसलमानों में पठान, सैय्यद, शेख और खिलजी सैनिकों के साथ ही अन्य सभी जातियों के लोग थे।

राणा लालसिंह के दो पुत्र थे राणा रूपसिंह एवं प्रतापसिंह, लालसिंह की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी के रूप में रूपसिंह सिपहसालार बने। इनके तीन पुत्र थे नवलसिंह, सरदारसिंह एवं हमारे नायक केशरसिंह। सबसे बड़े भाई सरदारसिंह बैंस मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के समय राजकुमारी कृष्णाकुमारी के विवाह को लेकर जयपुर, जोधपुर और टोंक की संयुक्त सेना के विरुद्ध हुए संघर्ष में महाराणा मेवाड़ के पक्ष में नीमच के रिसाले की एक घुड़सवार टुकड़ी लेकर गए थे और पिंडारी अमीर खाँ की सेना से लड़ते हुए अपने साथियों सहित शहीद हो गए थे। सबसे छोटे युवा केशरसिंह बचपन से ही बड़े वीर एवं साहसी थे युवावस्था में कुश्ती, घुड़सवारी एवं तलवारबाजी का जबर्दस्त शौक था। 19 वर्ष की आयु होते-होते उनकी ऊँचाई 6 फीट 7 इंच, चौड़ा सीना, बलिष्ठ शरीर एवं चेहरे का तेज देखते ही बनता था। इसी उम्र में जब चेहरे पर हल्की दाढ़ी-मूंछ ने दस्तक दी थी युवा केशरसिंह सिंधिया की फौज में अपने दोस्तों नन्हेखाँ, बक्शी जी खत्री एवं अन्य के साथ भर्ती हो गये थे। बाद में ग्वालियर फौज छोड़कर अंग्रेजों की फौज में शामिल हो गए। साहसी स्वभाव एवं रौबीले व्यक्तित्व के धनी केशरसिंह अंग्रेज छावनी में ''लीडिंग फैक्टर'' हो गए।

1857 में जब क्रांति की चिंगारी चमकी तब युवक केशरसिंह ने अपने साथियों एवं रिसाले के सैनिकों को साथ लेकर अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत कर दी। केशरसिंह बैंस एवं हीरासिंह परिहार के नेतृत्व में 3 जून, 1857 के रात्रि 11.00 बजे नीमच के सैनिकों ने क्रांति का बिगुल बजा दिया और क्रांतिकारियों ने छावनी को घेर लिया और उसमें आग लगा दी एवं नीमच में अंग्रेज सैनिकों का कत्लेआम करके बिजोलिया, नसीराबाद होकर मंगलपाण्डे एवं उनके साथियों से मिलने दिल्ली जा पहुँचे और वहाँ सभी क्रांतिकारियों ने मिलकर मुगल बादशाह बहादुर शाह

जफर को दिल्ली की गद्दी पर बिठाया जिसमें युवक केशरसिंह बैंस ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन शीघ्र ही परिस्थितियाँ बदल गईं और क्रांति विफल हो गई एवं कमान पुनः अंग्रेजों के हाथ आ गई। क्रांतिकारी बिखर गये तब अंग्रेजों ने बागियों को पकड़ने के लिये चारों ओर दस्ते भेजे। केशरसिंह ने साथियों के साथ कानपुर की राह पकड़ी और वहाँ से अंग्रेजों का मुकाबला करते हुए बिठुर के जंगल में चले गए। पीछा करते हुए अंग्रेज बिठुर पहुँचे और रात्रि में धोखे से जाल बिछाकर 1858 में होली के एक दिन पहले केशरसिंह को गिरफ्तार कर लिया गया। केशरसिंह एवं उनके साथियों पर मुकदमा चलाने के लिये उन्हें नीमच लाया गया और वर्तमान में नीमच सीटी में जो कचहरी खण्डहर के रूप में मौजूद है वहाँ मुकदमा चलाया गया और कोर्ट मार्शल की सजा हुई जिसमें मृत्युदण्ड दिया गया। मृत्युदण्ड की सजा के दिन युवक केशरसिंह को जंजीरों से जकड़कर हाथी के पीछे बांधकर कचहरी के सामने से सरे बाजार होते हुए छावनी के घंटाघर के पास से वर्तमान सी.आर.पी. के पास स्थित किले तक लाया गया। इस दृश्य को देखने के लिये सारे रास्ते दोनों ओर जनता जनार्दन का हुजूम इकट्ठा हो गया और आश्चर्य, विस्मय, भय एवं क्रोध से इस मंजर को देखा। शेर की चाल चलते हुए मौत को आलिंगन करने के लिये जाते देख कई महिलाओं की आँखों से आँसू छलक पड़े किन्तु युवा केशरसिंह के चेहरे का तेज देख बच्चे एवं युवा क्रोध से उबल रहे थे। अंग्रेजों ने शायद यह खौफनाक मंजर इसीलिए बनाया कि भविष्य में कोई बगावत न करे।

जंजीरों से बंधा शेर दिल क्रांतिकारी अंग्रेजों को चुनौती देता रहा और कहता रहा 'मुझे मेरी तलवार दे दो और मर्दों की तरह मुकाबला करो कायरों की तरह जंजीरों से जकड़कर क्या बहादुरी दिखा रहे हो?' लेकिन क्या यह सम्भव था? क्या अंग्रेजों में इतना साहस था? सारी क्रांति को छल, कपट और धोखे से ही तो कुचला था फिरंगियों ने। किले के वहाँ सारी अंग्रेजी फौज को पंक्तिबद्ध किया गया और युवक केशरसिंह बैंस को 16 अगस्त, 1858 के दिन तोप के मुँह पर बांधकर उड़ा दिया गया। केशरसिंह के दल के क्रांतिकारियों ने कानपुर ठहराव के दौरान अंग्रेजों का कत्लेआम करके जिस कुएं में डाला वो आज भी मेमोरियल वेल के नाम से कानपुर में स्थित है। क्रांतिकारी दल को जब पता चला कि अंग्रेज नावों में बैठकर गंगा पार भागने की तैयारी कर रहे हैं तो केशरसिंह तोप के साथ वहाँ पहुँच गये और अंग्रेजों की नावों को तोप से उड़ा दिया और गंगा में डुबा दिया। प्रतिशोध स्वरूप अंग्रेजों ने भी उन्हें तोप से बाँधकर उड़ाया। उनके साथी हीरासिंह परिहार, बक्शीजी खत्री, नन्हें खाँ और अन्य को फांसी दे दी गई। इस क्रूरतापूर्ण लेकिन कायरता भरे कृत्य को देखने के लिये सैंकड़ों की तादाद में जनता उपस्थित थी। बरसात में बादल तो धरती को पानी की बूंदों से सींचते है लेकिन इस राजपूत युवक ने खून की बूंदों से धरती को सींचकर धरती माँ का रक्त से वैसा तिलक किया जैसा उदाहरण मालवा की धरती पर दूसरा नहीं है।

केशरसिंह ही शहादत के बाद भी 3 पीढ़ियों तक अंग्रेजों ने नीमच स्थित रिसाले के ठाकुरों एवं मुसलमानों के वंशजों से बदले के लिये और उन्हें तबाह करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। रिसाले के सैनिक जो क्रांति के लिये दिल्ली पहुँच गए थे उनमें से ठा. भगवानसिंह गहलोत, कालूसिंह चौहान, हमेरसिंह बैंस, रघुनाथसिंह परिहार को तिहाड़ जेल में ही फांसी दे दी गई थी अर्थात् भारत माता के लिये शहादत प्राप्त हुई थी। देश आजाद हुए 73 वर्ष हो गए, न अब कोई क्रांतिकारियों को याद करता है, न उनकी शहादत को नमन किया जाता है और ना ही उनके बलिदान दिवस पर उन्हें अगरबत्ती लगाई जाती है। हाँ स्वतंत्रता के लिये कुछ दिन जेल में रहने वाले स्वतंत्रता सैनानियों को जरूर याद किया जाता है।

नीमच सिटी में आज भी कचहरी के आसपास रिसाले के सैनिकों के वंशजों के राजपूत और मुसलमान बसे हैं। देश की आजादी से पूर्व इस क्षेत्र को मोहल्ला जमीदारान कहा जाता था। लड़ाकू प्रवृत्ति होने एवं बक्सर

क्षेत्र (उ.प्र.) से आकर बसे होने के कारण ''बक्सर के ठाकुर'' के रूप में पहचान बनी। नीमच एवं क्षेत्र की जनता ने न कभी शहीद केशरसिंह को याद किया और न कभी सम्मान से नवाजा। वह युवक तो अपने साथियों के साथ भारत माता के चरणों में मालवा की इस भूमि पर टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया किन्तु केशरसिंह के इस बलिदान को हमने कभी नत् मस्तक होकर श्रृद्धा सुमन अर्पित नहीं किए। करते भी कैसे देश की आजादी के पूर्व अंग्रेजों से तो यह उम्मीद थी नहीं कि क्रांतिकारियों का इतिहास जनता को पढ़ावे और देश की आजादी के बाद शहीदों और क्रांतिकारियों के बलिदान को ऐसे पीछे धकेल दिया गया जैसे आज क्रिकेट ने फुटबाल, वालीबाल, हॉकी, कुश्ती और अन्य खेलों को धकेल दिया है।

देश के लिये सर्वस्व बलिदान करने वाले वीरों और क्रांतिकारियों के इतिहास को भुला देना कदापि अच्छा नहीं है, त्याग एवं बलिदान से देशभक्ति एवं मातृभूमि की सेवा करने की प्रेरणा मिलती है, नई पीढ़ी को प्रेरणा के सारे रास्ते बन्द होने से हम देख रहे हैं कि देशभक्ति की, राष्ट्रवाद की चर्चा बेमानी होती जा रही है। पूर्वी उत्तरप्रदेश में बैंसवाड़ा में ही राणा बैणी माधवसिंह बैंस हुए हैं जिन्हें वहाँ का हिन्दुआ सूर्य कहा जाता है उसी क्षेत्र के एक वीर युवक ने अपने वतन से हजारों मील दूर रहते हुए भी मातृभूमि के लिये जो वीरता दिखाई और जो बलिदान किया है, ऐसे उदाहरण इतिहास में गिने चुने मिलेंगे। केशरसिंह बैंस और बक्सर रिसाले के इन ठाकुरों एवं मुसलमानों की शहादत नीमच और स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखे जाने योग्य है।

✲

पृष्ठ 28 का शेष

परदे से परित्राण

जिस विद्यालय में मैं काम करती हूँ वो एक कायमखानी बाहुल्य गाँव का विद्यालय है। परदा वहाँ भी है, फर्क सिर्फ यह है कि उन्होंने इसे धर्म से जोड़ा और हमने सम्मान से। किन्तु वास्तविकता इन दोनों से परे है। और इस वास्तविकता को स्वीकार तो करना होगा। जो आडम्बर है, तर्कहीन है, रूढ़ीवादी है, शोषण का तथा बौद्धिक व वैचारिक पिछड़ेपन का प्रतीक है उसे वैचारिक धरातल पर तो गलत मानना ही होगा। कार्यरूप में परिणति अभी दूर का ख्वाब है। लोकल बसों में, बाजार में, सार्वजनिक स्थलों पर घूंघट को थोड़ा आगे कभी थोड़ा पीछे कर भूत और भविष्य के बीच वर्तमान का रास्ता ढूंढ़ती अपनी क्षत्राणी बहनों से क्या अपेक्षा करूँ कि वे उस समाज की महिलाओं को चुनौती दें जिनसे पारिवारिक मुद्दों से लेकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी मुद्दों पर उनके ससुराल में विचार-विमर्श किया जाता हो और जो घूंघट में लिपटी स्व के अधिकार और पहचान से वंचित सदस्य न होकर एक सक्रिय पारिवारिक सदस्य की अहम् भूमिका का निर्वाह करती हों। कहने को तो यह एक साधारण-सी बात है परन्तु यह प्रयास सीलन भरी दीवारों वाले कमरे की खिड़कियाँ खोलने जैसा हो सकता है।

प्रयास तो कीजिए। घुटन की जगह आत्म-विश्वास भरने का, सम्मान का भाव थोपने की बजाए भीतर से करवाने का, अपने घर की तुलसी को अतिसंरक्षित करने के बजाए आदर्श सामाजिक व्यवहार की प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में फलने-फूलने का और इस प्रयास को अपनी ही पीढ़ी से प्रारम्भ कीजिए। अपने समाज के वास्तविक सुधार की नींव अपने ही परिवार से रखने का हौसला उठाइए। क्षत्राणियों के पाले में गेंद डालकर कर्तव्य की इतिश्री मत कीजिए क्योंकि उनमें जो असमर्थ हैं वे बोल नहीं पाती और जो समर्थ हैं वे बोलती नहीं; परन्तु जो यह अपेक्षा करते हैं कि मेरा समाज एक आदर्श और सम्माननीय समाज बने उनसे यह अपेक्षा अवश्य होगी।

धारावाहिक

चित्रकथा – 'लोकदेवता बाबा रामदेव जी'

– बृजराजसिंह खरेड़ा

भैरव वध के बाद रामदेव की ख्याति दूर दूर तक होगई...लोग उन्हें अवतार मानने लगे
कुंवर रामदेव की जय ऽऽ
जुग-जुग जिओ कुंवर!
अजमाल जी के घर प्रभु ने जन्म लिया है
भैरव का वध कोई देव-पुरूष ही कर सकता था
हमारे कष्ट हरने को भगवान ने रामदेव जी के रूप में जन्म लिया है
भैरव का वध मैंने नहीं उसके पापों ने किया है.. पाप का घड़ा भर चुका था .. वह आदमी के रूप में राक्षसी कृत्य कर रहा था.. उसका अंत होना ही था..
अजमाल जी व मैणादे की खुशी का ठिकाना न था...
द्वारकानाथ का वचन असत्य कैसे हो सकता था... भैरव वध करने वाला रामदेव स्वयं उन्हीं का अवतार है
तुम्हारे जैसे वीर व प्रजावत्सल पुत्र पाकर गर्वित हैं हम.. यशस्वी भवः
सुगना व लाछां बहनें वीर भाई पर गर्वित हो रही थी
भैया! उस विशालकाय राक्षस से डर नहीं लगा? ...बताओ ना कैसे मारा उसे..
मेरे साथ मेरी बहनों का प्यार व माता पिता का आशीर्वाद था तो मुझे कैसा डर...
...और मैं तो यहां के लोगों को अत्याचार से मुक्ति दिलाने के लड़ रहा था.. तो जीत तो न्याय व सत्य की होनी थी..
रामदेव जी की प्रतिष्ठा बढ़ रही थी, यश फैल रहा था.. किंतु वे निर्लिप्त भाव से समाज के उपेक्षित व अछूत लोगों की सेवा में समर्पित थे
गावों में बीमारी के प्रकोप से कई मौतें हो गई
मेरी आयुर्वेद व प्राकृतिक चिकित्सा शिक्षा लोगों के काम आसकती है
राजकुमार आप मेरी सेवा करेंगे ?.. एक अछूत की!
काका, अछूत कोई नहीं है। हम सब एक ही ईश्वर की संतान हैं। ऊंच नीच का भाव रखना तो अधर्म है
मुझे, हर उस मोहल्ले में जाना है जहां हमारे अभावग्रस्त भाई-परिवार हैं
हमारा सनातन धर्म कहता है कि दूसरों की सेवा, असहाय की सहायता ही सच्चा धर्म है...नर सेवा ही नारायण सेवा है
10

अपनी बात

एक कहानी है। कहानी काल्पनिक है मगर बहुत बोधपूर्ण है। पुराने समय में एक राजा हुआ। वह जंगल से एक तोते को पकड़ लाया। तोता बहुत सुन्दर था। उस राजा को उस तोते से बहुत प्रेम हो गया। उसने उसके लिये स्वर्ण के पिंजरे बनवाए। उन्हें हीरे-मोती से जड़वाए। लाखों रुपए उन पर खर्च किए और उस तोते को पाला। उसे बड़ी शिक्षा दी। वह मनुष्य की भाषा सीख गया और बोलने लगा। वर्ष बीत जाने पर एक दिन उस राजा ने उस तोते से कहा कि मैं वन में जा रहा हूँ शिकार के लिये। जिस वृक्ष पर तुम्हें पकड़ा था, तुम्हारे बंधुजन, तुम्हारे मित्र, तुम्हारे सजातीय वहाँ आएँगे। कोई संदेश तुम्हारा हो तो मैं पहुँचा दूँ।

उस तोते ने कहा, उनको कहना कि मैं आनन्द में हूँ क्योंकि राजा की मुझ पर बड़ी कृपा है। मैं बहुत सुख में हूँ, क्योंकि राजा की मुझ पर बड़ी कृपा है। लेकिन न तो सुख से स्वतंत्रता देखी जा सकती है और न राजा के प्रेम और कृपा से। तो तुम सचेत रहना। उसने कहा कि मेरे मित्रों को कह देना कि मैं सुख में हूँ, राजा की बड़ी कृपा है। सब तरहसे बड़ी व्यवस्था है। सुविधा है। राजा का बड़ा प्रेम है लेकिन किसी भी कीमत पर स्वतंत्रता नहीं बेची जा सकती। इसलिए तुम सजग रहना- यह मेरे मित्रों को कह देना। राजा ने सोचा इसने संदेश तो बड़ा गड़बड़ दिया है लेकिन वचन दिया था तो वह गया।

राजा जंगल में उस वृक्ष पर गया जहाँ से उस तोते को पकड़ा था। वहाँ उस झाड़ पर हजारों तोते बैठे थे। जो सांझ को लौटे थे। राजा ने उनसे कहा कि तुम्हारे बन्धु ने यह खबर भेजी है। जैसे ही राजा ने पूरा संदेश सुनाया, एक-एक तोता वृक्ष से नीचे गिरने लगा। जैसे अचानक मृत्यु हो गई हो। जैसे ही राजा ने कहा कि उसने कहा है कि सुख तो बहुत है लेकिन स्वतंत्रता सुख पर नहीं बेची जा सकती। पिंजड़ा तो बहुत सुन्दर है, सोने का है। लेकिन आकाश के मुकाबले उसे नहीं चुना जा सकता। तुम जरा सावधान रहना। राजा ने जैसे ही यह कहा, एक-एक तोता वृक्ष से नीचे गिरने लगा जैसे कि सारे तोते एकदम मरने लगे। राजा ने मन ही मन कहा-यह कैसा अपशकुन वाला संदेश उस तोते ने भेजा है। हजारों तोते नीचे गिर गए, उनकी मृत्यु हो गई। राजा बहुत घबराया। वह बहुत चिंतित हुआ कि यह कैसा संदेश था? इसके कैसे सत्य थे कि हजारों तोते एकदम मर गए। गिर गए नीचे और ढेर लग गए।

राजा वापस लौटा और उसने उस तोते को कहा कि तुमने यह क्या पागलपन किया, यह कैसा संदेश भेजा? ये कैसे अपशकुन भरे शब्द थे कि मैंने जैसे ही कहा, हजारों तोते गिरने लगे वृक्ष से और मर गए। जैसे ही राजा ने यह कहा, उसने देखा कि तोता फड़फड़ाया और मर गया। वह वहीं मर गया पिंजड़े के भीतर। राजा बोला-मैं भी कैसा पागल हूँ? मैंने यह खबर इसको फिर सुना दी और यह भी मर गया। यह मामला क्या है? लेकिन तोता मर गया जो उसे बहुत प्यारा था। प्यारा तोता है तो शाही सम्मान से विदा हो। बहुत बड़े सम्मान की व्यवस्था की गई। पिंजड़ा खोला गया, उसे बहुत अच्छे वस्त्रों में रखा गया। लेकिन लोग देखकर हैरान हुए, जैसे ही पिंजड़े के बाहर वस्त्रों पर रखा गया, उसने पंख फड़फड़ाए और वह आकाश में उड़ गया। वह ऊपर महल की चोटी पर बैठ गया। राजा ने कहा यह क्या धोखा है, यह क्या मामला है? उस तोते ने कहा, मेरे मित्रों ने मुक्त होने का संदेश मुझे दिया। उन्होंने मेरे संदेश का उत्तर दिया। उन्होंने कहा मुर्दे की भाँति हो जाओ, पिंजड़ा खुल जाएगा। और यही संदेश है।

कहानी का बोध यह है कि मुर्दे की भाँति हो जाएँ तो जीवन मिल जाएगा। अगर सच में जीवन को पाना हो तो मरना सीखना होगा और जो मर जाता है, उसका पिंजड़ा खुल जाता है। उसे जीवन और स्वतंत्रता और मुक्ति उपलब्ध हो जाती है। मरने से पहले जीवन में मृत्यु हो जाए। मृत्यु उस तरफ से जिसको हम जीवन समझ रहे हैं। कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जिसके भीतर परमात्मा की संभावना नहीं है। वह संभावना है, लेकिन उसको जगाना होगा। जिन्हें हम पकड़े बैठे हैं, उनकी बड़ी कीमत समझते हैं, उन बातों के प्रति मरें और भीतर जागें और ये दोनों क्रियाएँ साथ चलती रहे कि व्यर्थ की बातों के प्रति मरते जाएँ और सार्थक बोध के प्रति जागते चले जाएँ तो जीवन में क्रांति बिल्कुल सुनिश्चित है। उस क्रांति से ही मनुष्य स्वतंत्रता को-मुक्ति को अनुभव करता है। शरीर के भीतर एक ज्योतिशिखा-एक विवेक की ज्योति अलग अनुभव होने लगेगी। यह बोध जितना गहरा होगा हमारी चेतना, हमारी आत्मा शरीर के खोल से अलग मालूम होगी और जो शरीर से अलग है, उसकी कोई मृत्यु नहीं। एक नया जीवन जन्म लेता है। हमारे भीतर बोध हो तो सब परमात्मा है। प्रभु इस बोध की जागृति करें, यही प्रार्थना है।

लून सिंह बड्डा

श्री क्षत्रिय युवक संघ के स्वयंसेवक
लून सिंह जी बड्डा की चतुर्थ श्रेणी से एलडीसी में पदोन्नति होने पर हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएं। लून सिंह जी स्वयं दिव्यांग होने के बावजूद भी संघ का कार्य दोगुने जोश व उत्साह से करते हैं। अभी इनकी पोस्टिंग जैसलमेर के पास बरमसर गांव में है। उन्होंने इस खुशी को संघ का प्रसाद माना है।

शुभकामनाएं।
श्री क्षत्रिय युवक संघ संभाग जैसलमेर।

सितम्बर, सन् 2020
वर्ष : 57, अंक : 09

समाचार पत्र पंजी.संख्या R.N.7127/60
डाक पंजीयन संख्या - Jaipur City /411/2020-22

संघशक्ति

ए-8, तारानगर, झोटवाड़ा,
जयपुर-302012
दूरभाष : 0141-2466353

E-mail : sanghshakti@gmail.com
Website : www.shrikys.org

श्रीमान् ....

....

....

स्वत्वाधिकारी श्री संघशक्ति प्रकाशन प्रन्यास के लिये, मुद्रक व प्रकाशक, लक्ष्मणसिंह द्वारा ए-8, तारानगर, झोटवाड़ा, जयपुर से : गजेन्द्र प्रिन्टर्स, जैन मन्दिर सांगाकान, सांगों का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर फोन : 2313462 में मुद्रित। सम्पादक-लक्ष्मणसिंह